सहजानंद शास्त्रमाला

दससूत्र प्रवचन

प्रथम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'दससूत्र प्रवचन'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सौरभजी छाबड़ा**, उज्जैन के द्वारा रु. 1100/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गाँधीनगर इन्दौर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती अर्चना जैन, साधनानगर, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

Contents

प्रकाशकीय 2

दससूत्र प्रवचन 4

तत्त्वार्थ प्रथम सूत्रप्रवचन 4

तत्त्वार्थ द्वितीय प्रथमसूत्र प्रवचन 15

तत्त्वार्थ तृतीय प्रथमसूत्र प्रवचन 23

तत्त्वार्थ चतुर्थ प्रथमसूत्र प्रवचन 31

तत्त्वार्थ पंचम प्रथमसूत्र प्रवचन 37

तत्त्वार्थ षष्ठ प्रथमसूत्र प्रवचन 46

तत्त्वार्थ अष्टम प्रथमसूत्र प्रवचन 55

तत्त्वार्थ नवम प्रथमसूत्र प्रवचन 64

तत्त्वार्थ दशम प्रथमसूत्र प्रवचन 71

दससूत्र प्रवचन

तत्त्वार्थ प्रथम सूत्रप्रवचन

(जबलपुर वर्षायोग 2 दिसम्बर 1954 ई.)

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''

तत्त्वार्थसूत्र की जैन आम्नाय में मान्यता और पूज्यता है, वह सब जानते हैं। एक यही ग्रन्थ ऐसा है, जिसे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मानते हैं। क्योंकि इसमें जैनागम का तत्त्वज्ञान है। यह संक्षेप रूप से उसका संकलन करने वाली दूसरी अच्छी रचना नहीं हो सकती थी, इस लिये अपने श्वेताम्बर भाइयों में भी इसके कुछ सूत्रों में थोड़ा हेर फेर होकर इसकी मान्यता है, ऐसा कई विद्वानों का मत है। इस शास्त्र में कई तरह की विशेषता है। प्रथमानुयोग के विषय को छोड़ अन्य सब अनुयोगों का वर्णन सूत्ररूप से इसमें भरा हुआ है। वैसे तो क्षेत्र काल गति आदि सूचना रूप प्रथमानुयोग भी आ गया है। इसके विषय के प्रतिपादन का क्रम, शैली और गांभीर्य अति उत्तम है। इसका सूक्ष्म दृष्टि से मनन करने पर परम आगम का अभ्यासी हो सकता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रारंभ के सूत्र में प्रारम्भ में सम्यक् और साध्याःपद इस सूत्रजी के अन्तिम सूत्र के अंत में आया हुआ है। जिससे यह अर्थ भी निकल सकता है कि रत्नत्रय जिसका विवेचन आगे पूरे ग्रन्थ में किया गया है वह साध्य है, साधने योग्य है। सम्यक् और साध्याः के मध्य में जितना प्रवचन है वह हृदय में धारने योग्य है। यद्यपि ग्रन्थकार का भाव यह रहा हो, ऐसा निश्चय नहीं कर सकते, फिर भी तत्त्वज्ञानियों के शब्दों का बड़ा महत्त्व है। एक ही बात में कई गूढ़ अर्थ भरे रहते हैं। जो अर्थ उनके ध्यान में दृष्टि उस ओर न होने से शायद नहीं भी होता हो, वह अर्थ भी उनके वचनों से निकल जाता है। ग्रन्थ में जो 10 अध्याय हैं, उनसे भी मतलब निकलता है कि गणना मूल में 9 तक है उसके बाद शून्य जोड़ कर 10 बनते हैं, जो ''एक गोल'' ऐसा लिखा जाता है। पदार्थ भी 9 होते हैं, और ये व्यवहार से हैं।

इन 9 भेदों से अतीत पदार्थ का स्वरूप शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत स्वरूप है। इन 9 भेदों के उल्लंघन होने पर वह गोल (GOAL) आता है जो आदि मध्य अंत से रहित है वे ध्येयरूप है। इस तरह उसके दशवें प्रकार का भी संकेत दशवें अध्याय से ले सकते हैं। दशवें अध्याय में शुद्ध पर्याय का वर्णन है जो स्वभाव के अनुरूप है। यों तो सामान्य तौर पर सात तत्त्वों के प्ररूपण में 10 अध्याय बन गये, पर बात ठीक है। इंगलिश में गोल को (GOAL) ध्येय कहते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि ये 10 अध्याय क्या हैं? गोल (ध्येय) है। दसों अध्यायों में जीव अजीव के विस्तार का वर्णन है सो इन भेद-पर्याय-विस्तार

को समझे बिना इनको एक आश्रयमात्र तत्त्व को समझना कठिन है। अत: यह विस्तार भी एक गोल पर पहुंचाने के लिये है। सूत्र के प्रारम्भ में टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने मंगलाचरण किया।

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं, कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये। अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता, द्रव्यकर्म वा रागद्वेषादि भावकर्म के भेदने वाले और विश्व के तत्त्वों के ज्ञाता को अथवा माने सम्पूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये अथवा उन गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ। इसमें पहिला विशेषण मोक्ष मार्ग के नेता का दिया। नेता वह कहलाता जो अपने लक्ष्य की ओर ले जाय, ले जाने वाला स्वयं जाता और दूसरों को उस अभीष्ट तक ले जाता। नेता का अर्थ पहुँचा देने वाला नहीं होता। क्योंकि पहुँचा देने वाले में यह नेतृत्व शक्ति नहीं होती। नेता तो वही है जो स्वयं उसको प्राप्त करे या उस पर चले और दूसरों को भी उसमें ले जाय। मोक्षमार्ग पर जो स्वयं न चला हो, स्वयं उस भाव को जिसने प्राप्त न किया हो तो दूसरों को मोक्षमार्ग में ले जाने का निमित्तत्त्व उसमें नहीं हो सकता। अरहंत आप्त में यह नेतृत्व पूर्णरूप से पाया जाता है। इसके साथ ही जो पूर्णरूप से रागद्वेषरहित वीतरागी हों और पूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) हों, वही वास्तविक मोक्षमार्ग का नेता हो सकता है। मोक्षमार्ग का प्रणयन, अल्पज्ञानी या रागी-द्वेषी नहीं कर सकता। इसी लिए ग्रन्थकार इन तीन गुणों की प्राप्ति के लिए अथवा उन तीन गुणों से विशिष्ट आप्त अरहंत की अनुभव में प्राप्ति के लिए उन गुणों को वा तद्विशिष्ट अरहंत को नमस्कार करते हैं। क्योंकि जो जिसका अर्थी होता है वह उसी की उपासना करता है। लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है।

किसी भी कार्य में सफलता पानी हो तो पुरुष को पुरुषार्थी, निर्दोष व ज्ञानी होना ही चाहिए। यहां मोक्षमार्ग की बात है इसके लिए मोक्षमार्ग का पुरुषार्थी और निर्दोषता में सर्वथा निर्दोष व पूर्ण ज्ञानी होता चाहिए। इस श्लोक में 3 विशेषण दिए हैं, 1- मोक्षमार्ग-नेता, 2-कर्मभेत्ता, 3-विश्वज्ञाता। मध्य का विशेषण पूर्व और ऊपर दोनों के लिए कारण है। जब तक जीव रागादि भावकर्म और मोहनीयादि द्रव्यकर्म का क्षय नहीं करता तब तक वह मोक्षमार्ग का अधिकारी, नेता व सर्वज्ञ नहीं बन सकता। जैनसिद्धान्त गुणवादी है व्यक्तिवादी नहीं। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ परिणमन ही नहीं कर सकता, तब व्यक्तिपूजा को महत्त्व का स्थान ही कैसे हो सकता है? जैन सिद्धान्त के इस मर्म को नहीं जानने वाले लोग न्याय के मार्ग में कदम रखें तो पद पद पर फिसलना पड़ता है। यहां मोक्षमार्ग के नेता का स्मरण इसीलिये है कि उनका ही निमित्तरूपेण हम सब पर उपकार है। कर्मभेत्ता का स्मरण इसलिए किया है कि आखिर निर्विकल्पता भी तो ज्ञानी ने केवल शुद्ध दशा में निर्णीत की है। विश्वज्ञाता का स्मरण इसलिए किया है कि अन्त में शुद्ध अवस्था होने पर सद्भावरूपेण यही सर्वज्ञता ही तो रहती है। अहो, नमस्कार भी हो तो ऐसा हो कि वह नमस्कार परिणमन सफलता की उन्नति करता रहे। मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पहाड़ के भेदन करने वाले व सर्व तत्त्व (त्रिलोक व त्रिकालवर्ती) के जानने वाले चैतन्य-स्वरूप प्रभु को नमस्कार हो।

वे मोक्षमार्ग के नेता जो तत्त्वज्ञान बताते हैं, वह सनातन हैं। क्योंकि ज्ञान को वेद कहते हैं, और बहुत लोगों ने वेद को अपौरुषेय, अनादि से चला आया माना है। श्रुतज्ञान रूपी वेद, अथवा षट्खण्डागम

वेद, महावीर तीर्थंकर ने नया पैदा किया हो अथवा पहिले के और दूसरे तीर्थंकरों ने पैदा किया हो, ऐसी बात नहीं है। वह ज्ञान (वस्तु का धर्म) किसी का बनाया नहीं बनता, वह तो हमेशा विद्यमान है। आत्मा की आत्मीयता, आत्मा की चेतनता, आत्मा की ज्ञानात्मकता, आत्मा का रत्नत्रय- ये सब उसमें अनादि से हैं, जो संसारी आत्माएं विकारी हैं, उनको दूर करने का उपाय भी अभी से नहीं है, वह भी सनातन है।

अत: तत्त्वज्ञानरूपी वेद सनातन हैं, तीर्थंकर उसका प्रणयन करते हैं। जगत् के प्राणी उस ज्ञान से (धर्म से) शून्य होते हैं, वे अपने उस गुण और धर्म को भूले रहते हैं। तब तीर्थंकर उसका उद्बोध मात्र कराते हैं। वर्तमान काल में 24 तीर्थंकरों के निमित्त से यह उपकार हुआ। इसके पहिले अनंत भूतकाल में, अनंत तीर्थंकर होते आए और वे मोक्षमार्ग का प्रणयन करते आए। आगे अनन्त भविष्य में भी यही क्रम चलता रहेगा। अत: इस दृष्टि से वेद (ज्ञान) अनादि है। उसी सनातन ज्ञान को यहां दिखाया जाता है। ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:''। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है।

सत् एक अखण्ड होता है और उसकी पर्याय भी एक समय में एक होती, उस सत् के भेद शक्ति के आधार पर होते हैं और पर्याय के भेद शक्ति की व्यञ्जना पर होते हैं। मोक्षमार्ग में भी आत्मा एक है और पर्याय भी एक समय में एक है। वह पर्याय नि:शंकतापूर्वक ज्ञाता द्रष्टा रहना। इस एक कार्य में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता स्पष्ट प्रतीत हो रही है। उत्तरोत्तर यह अभेद दृढ़ होता जाता है। अंतिम मोक्षमार्ग चौदहवें में गुणस्थान का अंतिम भाग है। गुणरूप से अंतिम मोक्षमार्ग 12 वें गुणस्थान का अंतिम भाग है। मोक्षमार्ग का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान में पहुँचने से पूर्व मिथ्यात्व गुणस्थान का अंतिम भाग है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुणस्थान को छोड़ कर यदि अन्य गुणस्थान लेता है तो उपशमसम्यक्त्व का गुणस्थान लेता है सो प्राय: अविरतसम्यक्त्वनामक चौथा गुणस्थान पाता है। बिरला कोई जीव प्रथमो प्रथम सम्यक्त्व के साथ साथ देशव्रत या महाव्रत भी पा लेता है। सर्वत्र जो भी हो दर्शन ज्ञान चारित्र का एकत्व है। जैसे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का एकत्व है। वैसे संसार मार्ग में भी देख लो भैया ! मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का एकत्व है।

एक कथानक के आधार पर प्रकट रूप में जो यह पहिला सूत्र कहा गया है उसकी प्रारम्भिक रचना इस रूप में नहीं हुई थी और न इस सूत्र की रचना का प्रारम्भ उमा स्वामी से हुआ। इसका प्रारम्भ करने वाला एक भव्य मुमुक्षु श्रावक है। उस मुमुक्षु ने एक बार इसका निश्चय करके कि मोक्षमार्ग का बताने वाला कम से कम 1 सूत्र बना कर ही मैं भोजन किया करूंगा। पहिले दिन उसने पहिला सूत्र बनाया 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:' कुछ समय पीछे इस श्रावक के घर मुनि आये, श्रावक की गृहिणी ने पडगाहन करके आहार दिया। मुनि जब वन को जाने लगे तो उनकी दृष्टि भींत पर लिखे हुए उस सूत्र पर पड़ी। कुछ सोचकर उसके आदि में 'सम्यक्' पद और जोड़ दिया। इसलिए कि दर्शन ज्ञान चारित्र मिथ्या भी होते हैं, वे मोक्ष के मार्ग नहीं संसार के मार्ग होते हैं, इसलिये संदिग्ध पद को सुधार देना उचित है- ऐसा सोचकर सूत्र के पहिले सम्यक् लिख दिया। मुनि इसके बाद तपोवन में चले गये।

श्रावक जब घर पर आता है और उसकी दृष्टि उस सूत्र पर पड़ती है तो अवाक् रह जाता है, गृहिणी से पूछता है- कोई आया था घर पर? वह साधु के आने और उन्हें आहार देने का समाचार कहती है। जिज्ञासु श्रावक निश्चय करता है कि यह उपकृति उन्हीं साधु की है। मुनिगमन की दिशा मालूम कर शीघ्रता से खोज करता हुआ मुनि के समीप पहुंच जाता है और चरणों में नम्रीभूत हो निवेदन करता है कि मुने ! जिस रचना को मैंने प्रारम्भ किया उसके प्रथम प्रयास में ही मुझसे भूल हो गई, तब आगे वह रचना ठीक ही होगी यह कैसे हो सकता है, अत: आप ही इसके अधिकारी हैं और इस ग्रन्थ का निर्माण आप ही करने की कृपा करें। मुनि ने उस भव्य का निवेदन स्वीकार किया और उसकी रचना तत्त्वार्थसूत्र के रूप में की जो कि हमारे समक्ष में है, और हमारे कल्याण के लिये जो एक अनुपम निधि है अथवा जिन योगियों ने सत्य आनन्द का अनुभव किया है उनकी प्राणियों पर दृष्टि होने पर यह भाव हुए बिना नहीं रहता है कि ये स्वभावत: आनन्दमय ज्ञानमूर्ति निज प्रभु के दर्शन बिना भटक रहे हैं, ये स्वाधीन शान्तिमार्ग पायें। इस भावना से आगृहीत् पूज्यपाद योगीश्वर ग्रन्थरचना करते हुए सर्व प्रथम एकदम स्पष्ट मोक्षमार्ग बतलाते हैं-

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:''।

प्रकरणवश इतना जान लेने पर इस प्रथमसूत्र पर ही विचार करें। सूत्र का शब्दार्थ प्रस्तावना में प्रकट हो चुका है। यह सूत्र ही ऐसा अद्भुत है कि सूत्र कहना चाहोगे तो पहिले जो कहोगे वह अर्थ ही हो जावेगा।

अब हम सम्यग्दर्शन के बारे में विशेष विचार करें-

जिस स्वरूप से विशिष्ट जो पदार्थ हैं उनका उस पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह परिभाषा व्यवहार से है। लेकिन निश्चय का अर्थ भी इसी से घटित होता है। सत् असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष और एक-अनेक आदि धर्म विशिष्ट जीव अजीव तत्त्व हैं। उनकी विकारी पर्याय से आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष मिलकर 7 भी तत्त्व हैं। उन सातों में जीव सार रूप है, उस जीव में भी उसका जो निर्विकार शुद्ध चित् भाव है, जो आनन्दस्वरूप है वह सार है। उसका श्रद्धान होना, देखना, अनुभवन होना सम्यग्दर्शन है, सम्यक् का सम्यक् दर्शन होना सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्वनिश्चय में प्राप्त हो तो सुन्दर है, सम्यक् है। अपने स्वभाव के विरुद्ध पर के निमित्त को पाकर स्वविभावशक्ति से जायमान विभावों की ओर उन्मुखता हुई कि बड़े विसंवाद बन जाते हैं। वस्तु अखंड एकस्वस्वामी है। उसकी अनंतानंत पर्यायों में भी वह एक स्वभाव सदा अंत: प्रकाशमान रहता है। इस अशुद्ध संसार अवस्था में भी तीव्र मिथ्यादृष्टिजीव तक अपने स्वभाव के कारण पदार्थों को बहिर्मुखतया भी जानने से पहिले आत्मसामान्य का स्पर्श करते हैं। हां यह बात अवश्य है कि जिसके स्पर्श का यत्न होता है उसे स्पर्श कर भी उसकी संचेतना बहिरात्मा नहीं करते हैं। सिद्धान्तशास्त्रों में यह बिल्कुल

स्पष्ट लिखा है कि कुमतिज्ञान से भी पहिले चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन होता है। यह दर्शन क्या है? कहीं आँख से देखने का नाम चक्षुदर्शन नहीं है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न हुए ज्ञान से पहिले जानने का बल विकसित करने के अर्थ उपयोग आत्मा की ओर झुकता है तब जो सामान्य अवलोकन है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। इसी तरह चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रिय व मन के निमित्त से जायमान ज्ञान से पहिले जो दर्शन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। देखो भैया ! आत्मकल्याण के लिये सुविधासामग्री सदा तैयार है, जो भव्य उसका उपयोग कर ले वह धन्य है। यह चैतन्यस्वभाव जो कि अखंड अविनाशी स्वत:सिद्ध है वही सुन्दरतम् है, सम्यक् है। इस सम्यक् का सम्यक् विधि से अर्थात् भेद विकल्पों से निर्णय कर भेद पक्ष छोड़कर अभेद दृष्टि के अवलंबन के अनंतर समस्त दृष्टिपक्ष के विकल्पों से हटकर अभेदानुभव करना सम्यग्दर्शन है। जीव के लिये सम्यग्दर्शन के समान और कोई उपकारी नहीं है। इसके बिना ही वह कुज्ञानी और मिथ्याचारी बना रहता है। इसी लिये समन्तभद्र स्वामी कहते हैं-

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेश्यच मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

तीन काल और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी दूसरा नहीं और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी दूसरा नहीं। यह मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन के ठीक विपरीतरूप होता है। इस सम्यग्दर्शन की महिमा कहने में कोई समर्थ नहीं है। सम्यक्त्व के बिना पूजा, दान, तप आदि भी वास्तविक नहीं होते। उन सब अच्छे कार्यों का लक्ष्य संसार की तरफ चला जाता, विकल्प बाहर की तरफ दौड़ते रहते।

हमारी प्रारम्भिक निगोद दशा कैसी थी? हम बेचारे थे, असहाय थे। बेचारे अर्थात् जिनका चारा नहीं, आश्रय नहीं। ऐसे बेचारे तो हम निगोद में अथवा उसके ऊपर भी असंज्ञी पर्यायों में ही थे। संज्ञा (मन) होने पर सोचने समझने की शक्ति आने पर बेचारा मन कहां रहा? फिर तो यथार्थ पुरुषार्थ करने की शक्ति हम में आ गई। फिर अब भी हम बेचारे के बेचारे बने रहें और सम्यक्त्व को जागृत न करें तो यह कितनी भारी भूल होगी? मनुष्य-जन्म की सफलता अपने स्वरूप को समझने में है।

देखो भैया ! निज चैतन्य महाप्रभु की सत्कृपा:- निगोद जैसे दुष्पद से निकलने में चैतन्यभाव के सद्विकास का ही तो अनुग्रह है। यह चैतन्य महा-प्रभु जैसे जैसे प्रसन्न होता गया उत्तरोत्तर समृद्धि पाता हुआ आज सैनी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य की दशा में आ गया जिसके लिए इन्द्र भी तरसते हैं। यदि अब भी हमने चैतन्यदेव की भक्ति नहीं की और विषय कषाय की वृत्ति से प्रभु पर हमला किया तो हमारी बड़ी दुर्गति होगी।

एक साधु जंगल में बैठे ध्यान कर रहे थे। उनके पास एक चूहा बैठा रहा करता था। अचानक बिलाव ने उस पर हमला करना चाहा तो झट दयावश साधु ने आशीर्वाद दिया ''विडालो भव''। वह बिलाव बन गया। अब बिलाव का तो डर न रहा किन्तु कुत्ता ने आक्रमण करना चाहा तो आशीर्वाद मिला कि श्वान

भव। कुत्ता बन गया। फिर झपटा व्याघ्र, सो कहा ''व्याघ्रो भव''। फिर सिंह झपटा तो आशीर्वाद दिया ''सिहों भव'' । वह चूहा उत्तरोत्तर वृद्धि से सिंह बन गया। अब सिंह को लगी भूख, सो साधु को ही सिंह ने खाना चाहा, तब आशीर्वाद मिला ''पूनर्मूषको भव''। बन्धुवों ! इसी प्रकार चैतन्यदेव का आशीर्वाद पाकर यह जीव निगोद से निकलकर मनुष्य हो गया। यदि यह मनुष्य जिस चैतन्यदेव की प्रसन्नता से उन्नत बना, उसी चैतन्यदेव पर आक्रमण करेगा तो झट यही आशीर्वाद मिलेगा कि ''पुनर्निगोदो भव'' अर्थात् फिर निगोद बन जा।

इस मनुष्य-जन्म में देखो कितनी शक्ति प्रकट हो गई है, विवेक उसके उपयोग का होना चाहिये। चाहे उपयोग को स्वभाव की ओर लगा दो, चाहे कषाय की ओर लगा दो। भावना से ही सब काम होता है। इस मनुष्य-जन्म में सम्यक्त्व प्राप्त होने के योग्य क्षयोपशमलब्धि प्राप्त है। क्योंकि भला बुरा सोचने समझने का हममें पर्याप्त ज्ञान है। देशना लब्धि अर्थात् तत्त्वज्ञानी का उपदेश मिलना। वह भी हमारे लिये उपलब्ध है। विशुद्धि लब्धि आत्मपरिणामों की विशेष निर्मलता को कहते हैं। यदि हम चाहें तो परिणामों में कठोरता तीव्रता तामसी वृत्ति न आने दें। परिणामों में कठोरता रखना या कोमलता रखना यह हमारे हाथ की बात है क्योंकि इस लायक योग्यता प्रकट हो गई। इन तीन लब्धियों की प्राप्ति हो जाने पर चौथी प्रायोग्यलब्धि होती है। विशुद्धि बढ़ने पर जब कर्मों की लम्बी स्थिति बढ़ना बंद हो जाती है और अधिक से अधिक अन्त:कोटाकोटि सागर प्रमाण कर्मों का स्थिति बंध रह जाता है, तब यह विशुद्धि प्रायोग्यलब्धि कहलाती है। इस प्रायोग्यलब्धि वाला जीव पहिले गुणस्थान से लेकर छठवें तक बंधने योग्य कितने ही कर्मों का बन्ध नहीं करता। यद्यपि सम्यक्त्व हो जाने पर चौथे, पांचवें और छठवें गुणस्थान में बंधने योग्य उन प्रकृतियों का बन्ध होने लगता है, लेकिन सम्यक्त्व के उन्मुख होने पर प्रायोग्यलब्धि में यह बंध नहीं होता, उतने समय के लिए वह रुक जाता है। जैसे जिस वर की शादी होती है, उसको विवाह होने के समय तक के लिए बादशाह मान लिया जाता है। पीछे विवाह हो चुकने पर फिर वह बादशाहीपन नहीं रहता। उसी तरह कुछ प्रकृतियों के बंधविचार में प्रायोग्यलब्धि वाले मिथ्यादृष्टि के अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत या प्रमत्तविरत जैसी बादशाहीयत समझना चाहिये। इस लब्धि के प्राप्त हो जाने पर जीव के आगे आगे समय में असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है और बंध इसी क्रम से हीन-हीन। कर्मों की स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग कम हो होकर पृथक्त्वशतसागर कम हो जाने पर नरक आयु के बंध का होना रुक जाता है। उसके बाद की हीन-हीन स्थितियों में क्रमश: तिर्यञ्च, मनुष्य और देवायु के बंध का अभाव होता है। फिर नरकगति नरकगत्वानुपूर्वी इन 2 प्रकृतियों का बंधव्युच्छेद हो जाता है। पुन: सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन प्रकृतियों का सम्मिलित बंध रुक जाता है।

इस प्रायोग्यलब्धि में इस प्रकार 34 बंधापसरण होते हैं। प्रत्येक बंधापसरण में पृथक्त्व शतसागर स्थिति कम होती है। वह हीनता पल्य के असंख्यातवें भाग कम हो होकर कम होती है। ये 6 बंधापसरण हुए। इसी प्रकार ये 28 बंधापसरण कहना चाहिये। 7-सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक, 8-बादर अपर्याप्त साधारण, 9-बादर अपर्याप्त प्रत्येक, 10-द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, 11-त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, 12-चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, 13-

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, 14-सज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, 15-सूक्ष्मपर्याप्त साधारण, 16-सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक, 17-वादर पर्याप्त साधारण, 18-वादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आताप स्थावर, 19-द्वीन्द्रिय पर्याप्त, 20-त्रीन्द्रिय पर्याप्त, 21-चतुरिन्द्रियपर्याप्त, 22-असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, 23-तिर्यग्गति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी उद्योत, 24-नीच गोत्र, 25-अप्रशस्तविहायोगति दुर्भग दु:रवर अनादेय, 26-हुंडकसंस्थान असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, 27-नपुसंकवेद, 28-वामनसंस्थान, कीलकं संहनन, 29-कुब्जकसंस्थान अर्द्धनाराचसंहनन, 30-स्त्रीवेद, 31-स्वातिसंस्थान नाराचसंहनन, 32-न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान वज्रनाराचसंहनन, 33-मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी औदारिकाङ्गोपाङ्ग वज्रवृषभनाराचसंहनन, और 34 वीं बार में असाता अरति शोक अस्थिर अशुभ अयश:कीर्ति। ये बंधापसरण की प्रकृतियां वे हैं जो 1, 2, 4, 6, 7 वें गुणस्थान में बंध से व्युच्छिन्न होती है। यहां विचारिये यह प्रयोग्यलब्धि वाला जीव भी कितना बलिष्ट हो रहा है, सातवें गुणस्थान तक की अनेक प्रकृतियों के बंध को हटा देता है।

इतनी करामात प्रायोग्यब्धि में रहती है। फिर आगे करणलब्धि का प्रारंभ होता है, करण नाम निर्मल परिणामों का है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के करणलब्धि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के प्रादुर्भाव के लिए होती है। करण तीन होते हैं- 1 अध:करण, 2 अपूर्वकरण, 3 अनिवृत्तिकरण। अव्यवस्थित परिणाम जब किसी उत्तम व्यवस्था में आने को होते हैं तो एक सदृश व्यवस्थित होने से पहिले 2 प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे हैं अध:करण और अपूर्वकरण। अध:करणपरिणाम वाले जीवों के परिणाम एक ही समय अथवा कुछ समय पहिले के व आगे के समयों में सदृश अथवा विसदृश होते हैं। अपूर्वकरणपरिणामों में एक ही समयवर्ती आत्मावों के परिणाम चाहे सदृश हो जावें परन्तु आगे-पीछे के समयवर्ती आत्मावों के परिणाम अपूर्व ही होते हैं। अनिवृत्तिकरण परिणाम में एक समयवर्ती आत्मावों के परिणाम एक सदृश ही होते हैं। लोक में भी व्यवस्था सम्बन्धी यत्न ऐसा देखा जाता है। जैसे अव्यवस्थित घूमने वाले सिपाहियों को कमाण्डर व्यवस्था से समीप आने की आज्ञा दे तब वे सिपाही कुछ लाइन में व कुछ बाहर, इसी प्रकार कुछ बिना पैर मिले व कुछ मिले पैर वाले होते हैं। दूसरे यत्न में लाइन एक हो जाती है, परन्तु पैरों का मेल बेमेल बना रहता है। तीसरे यत्न में सर्वथा व्यवस्थित हो जाते हैं। इसी प्रकार यहां सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव के लिये जो करणयत्न है उसमें त्रिविधता होती है। इन करणों में सम्यक्त्वघातक निषेकों के उपशम का यत्न व अन्तरकरण होता है। जिन समयों में सम्यक्त्व रहेगा उन समयों की स्थिति का सम्यक्त्वघातक निषेक नहीं रहता है। उस स्थिति वाले निषेक आगाल प्रत्यागाल की विधि से कुछ पहिले कुछ पश्चात् की स्थिति वाले निषेकों में पहुंच लेते हैं।

उस समय जीव के भारी निर्मलता रहती है इतनी निर्मलता कि शीघ्र शुद्धि बढे तो अन्तर्मुहूर्त में (जिस अन्तर्मुहूर्त के अवान्तर 14 अन्तर्मुहूर्त 14 तरह के कार्यों के लिए हैं।) मोक्ष पा सकता है। वे चौदह अन्तर्मुहूर्त चौदह कार्यों के लिये इस प्रकार है:-

पहिला अन्तर्मुहूर्त अन्तर करण का, दूसरा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने का, तीसरा अन्तर्मुहूर्त क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने का, चौथा व 5 वां अन्तर्मुहूर्त अनंतानुबन्धी के विसंयोजन का व दर्शनमोह

के क्षय का, 6 वां अन्तर्मुहूर्त अप्रमत्तविरत गुणस्थान होने का, 7 वां अ. मु. प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानों में अदल बदल होने का, इसमें छोटे-छोटे असंख्यात अन्तर्मुहूर्त हैं। 8 वां अन्तर्मुहूर्त अध:करण का, 9 वां अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरण का, 10 वां अन्तर्मुहूर्त अनिवृत्तिकरण का, 11 वां अन्तर्मुहूर्त सूक्ष्म साम्पराय का, 12 अ. मु. क्षीणमोह का, 13 वां अन्तर्मुहूर्त संयोग केवली होने का, चौदहवां अन्तर्मुहूर्त अयोगकेवली होकर सिद्ध होने का है।

इन 14 अन्तर्मुहूर्तों का काल बहुत थोड़ा है। सबका समय मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के अगणित भेद हैं। इस तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर मोक्ष प्राप्त होने में देर नहीं लगती यह स्पष्ट हुआ। यदि विलम्ब भी हो तो कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल से अधिक विलम्ब तो हो ही नहीं सकता।

(1) आत्मश्रद्धा को सम्यग्दर्शन, (2) आत्मज्ञान को सम्यग्ज्ञान और आत्मलीनता को सम्यक्चारित्र कहते हैं। व्यवहार से सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन, तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान और पापनिवृत्ति को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

सम्यक्त्वभाव का निमित्त अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यात्व- इन पाँच प्रकृतियों का उपशम तथा वेदक योग्य सादिमिथ्यादृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिलकर 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम व 7 का क्षय है तो क्षय तो वेदकसम्यग्दृष्टि ही करता है। उपशम व क्षयोपशम को मिथ्यादृष्टि कर लेता है। क्षयोपशमसम्यक्त्व को उपशमसम्यग्दृष्टि भी करता है। प्रकृतियों के उपशमादि का निमित्त है अखंड चैतन्य स्वभाव का ध्यान। इस ध्यान के लिये आवश्यक है तत्त्वाभ्यास। तत्त्वाभ्यास के लिये द्रव्य, गुण, पर्यायों की समस्या अच्छी तरह से हल कर लेना चाहिये। द्रव्य सत्स्वरूप, स्वत:सिद्ध, अनादिनिधन, स्वसहाय व अखण्ड होता है। जो कुछ दिखता है उसके खंड-खंड हो जाते हैं वह द्रव्य नहीं, उनमें अविभागी जो एकप्रदेशी सत् है वह द्रव्य है। आत्मा तो हमारा आपका सबका एक-एक अखण्ड है वह द्रव्य है। इसी तरह एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात कालाणु एक-एक ये सब द्रव्य हैं। द्रव्य अनंतशक्त्यात्मक होता है, एक-एक शक्ति का नाम एक-एक गुण है, उन सब गुणों से पर्यायें उत्पन्न होती हैं। यहां जीव का निमित्त पाकर अजीव कर्म में व अजीव कर्म का घनिष्ठ संयोग या अभाव का निमित्त पाकर जीव में कई अवस्थायें हो गई हैं, वे संक्षेप में 5 हैं- आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। आस्रव जिन प्रकृतियों का हुआ है वे पुण्यापाप के भेद से 2 प्रकार के हैं, तथा जीव व अजीव की अपेक्षा 2 मूलद्रव्य हैं इस प्रकार सब तत्त्व 9 हुए। इन भेदों-विकल्पों का यथार्थ ज्ञान करके पर्यायों को पर्यायों के स्रोत मूलद्रव्य के उन्मुख करे, निमित्त की दृष्टि का उपयोग न करे, तब पर्यायें विलीन होकर एक मात्र द्रव्यदृष्टि रहेगी, वहां भी निश्चयपक्ष छोड़कर अत्यंत निष्पक्ष होता हुआ स्वभाव का अनुभव करे। सर्व भेद विकल्पों को छोड़कर अभेदस्वभाव में स्थिर रहे। यह कल्याण का अमोघ उपाय है।

ये तीनों सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र के निजस्वरूप और नाम आदि की अपेक्षा से भिन्न–भिन्न हैं, किन्तु अमूर्त आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में एकमेक होकर रहते इसलिये अभिन्न हैं। आजकल का राष्ट्रध्वज भी जैन सिद्धांत के अनुकूल है।

राष्ट्रीय तिरंगा झन्डा में रत्नत्रय की कल्पना घटित होती है। साहित्यकार रुचि का वर्णन पीले रंग से करते हैं। और और जैनधर्म में रुचि को सम्यग्दर्शन कहते हैं। हरा रंग हरे-भरे रंग का द्योतक है। यह सम्यक् चारित्र को बतलाता है, क्योंकि उससे शुद्ध आत्मपर्याय की उत्पत्ति होती है। और ज्ञान का वर्णन सफेद रंग से किया जाता है, तब सफेद रंग सम्यग्ज्ञान का प्रतीक हुआ। इस तरह रत्नत्रय का प्रतीक, पीला, हरा और सफेद रंग वाला तिरंगा झन्डा (राष्ट्रीय झंडा) है। उसमें जो चक्र का चिन्ह है उसमें 24 आरे रहते हैं, जिनका अर्थ होता है कि उस मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय को 24 तीर्थंकरों ने प्रकट किया है। तिरंगा झंडा 24 तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित, प्रदर्शित आत्मा के रत्नत्रय-धर्म को या कहिये मोक्षमार्ग को स्मरण कराता है। हमको उस मोक्षमार्ग में अपना पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। इस भव से नहीं तो अगले भवों से हम मोक्ष पाने के अधिकारी हो जावें। मनुष्यजीवन में यह सबसे बड़ा काम है।

कोई कहे कि इस काल में तो मोक्ष होता नहीं है, फिर उसके लिये प्रयत्न क्यों किया जाय? तो उत्तर है कि भाई ! यदि मुझे मोक्ष की चाह है तो उस मार्ग में लग जाना ही एक तेरा कर्तव्य है। अब नहीं तो तब, मोक्ष होकर ही रहेगा। यदि तुझे आज ही कुछ दिनों या वर्षों में मोक्ष मिले, तभी तू उसके लिये प्रयत्न करेगा, नहीं तो नहीं, तो यह तेरी आत्मवंचना है, बहाना है। तू आत्मकर्तव्य से पीछे हटने के लिये झूठी दलील चलाना चाहता है और फिर यह भी तो सोच कि बड़े बड़े महापुरुषों को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद मोक्ष पा लेने में कितना समय लगा है? सभी जीवों को तो अंतर्मुहूर्त में मोक्ष नहीं हो जाता, अरबों-खरबों वर्ष तक इसकी साधना में बीत जाते हैं। ऋषभदेव भगवान् को कुछ कम (अरहंत अवस्था का समय कम) 1 लाख पूर्व अर्थात् हजारों अरब वर्ष लग गया। तू तो उनसे जल्दी भी जा सकता है। यहां से मरकर विदेह में उत्पन्न होकर तो 8-9 वर्ष में ही सिद्ध बन सकता है। हां, कमी यह है कि मरते समय हमारे सम्यक्त्व रहे तो विदेह में नहीं पैदा हो सकते। उस विदेह की भी चिन्ता हटावो। सम्यक्त्व का वियोग मत होओ। तू भव को मत देख। देख भव रहित निज चैतन्य स्वभाव को, आत्म संतोष और धेर्यपूर्वक मोक्षपथ में चलते रहने के लिये ज्ञानवृत्ति रूप उद्यम कर, तू भव को मत देख। यदि स्वभाव की ओर उपयोग हो तो तुम ही बतावो क्या भव का उपयोग रहता है? स्वभाव तो शुद्ध अशुद्ध सभी पर्यायों से विलक्षण एक केवल शुद्ध है। स्वभाव में भव कहां है? भव की शंका विचारणा में स्वभाव का उपयोग कहां है? देखो-देखो स्वभाव में बड़ी महिमा है तभी तो इसके आश्रय से इसका धनी महान् बन जाता है। स्वभाव अखंड है तभी तो अखंड के आश्रय से अन्त में ज्ञान त्रिलोक, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का अखंड ज्ञाता हो जाता है। स्वभाव निर्विकल्प है तभी तो स्वभाव के आश्रय से इसका धनी निर्विकल्प हो जाता है। स्वभाव अविनाशी है तभी तो इसके आश्रय से इसका धनी विषम पर्याय के अभाव रूप अविनाशी एक समान पर्यायों के अविनश्वर प्रवाह रूप अविनाशी पद को प्रकट कर लेता है। अहो ! बड़े बड़े योगीन्द्रों ने

भी मात्र एक आत्मस्वभाव की उपासना की। यह बात तो बिलकुल पूर्ण प्रकट है, साईंस में उत्तीर्ण नि:संदेह बात है। मित्रों ! एक इस ही ज्ञानस्वभाव का, चैतन्यस्वभाव का आश्रय लो, फिर मुक्ति हस्तगत ही है। भले ही कुछ समय और लग जावे, परन्तु विचारो तो सही, अनन्तानन्त काल के सामने असंख्यात भी समय क्या चीज है? एक सच्ची कहानी है। सुनिये-

एक तपस्वी पलाश वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये थे। एक श्रावक भक्त आया। मुनि का भी ध्यान टूटा। धर्मकथा हुई, श्रावक भगवान के समवशरण में जा रहा था। वहां मुनि से विदा मांग चलने लगा। मुनि ने कहा, मेरे संसार में कितने भव बाकी हैं, मेरा मोक्ष कब होगा? भगवान से पूछना। श्रावक भगवान के समवशरण में गया। तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और मुनि के संसारी भवों को भी मालूम किया। वापिस समवशरण से आया तो इसी बीच मुनिराज पलाश वृक्ष के नीचे से उठकर इमली के वृक्ष के नीचे पहुंच गये। श्रावक मुनि को इमली के वृक्ष के नीचे बैठा देख खिन्न होता है। मुनि पूछते हैं क्या कारण है? तेरे दु:ख मनाने का। श्रावक बोलता है कि महाराज ! भगवान ने अपनी दिव्य वाणी में आपके प्रश्न का उत्तर दिया है कि आप जिस वृक्ष के नीचे बैठे हैं उतने ही भव बाकी हैं। इस बात से मुझे खुशी हो गई थी क्योंकि आप उस पलाश वृक्ष के नीचे बैठे थे, जिसमें कि इनेगिने पत्ते थे। लेकिन अब आप इमली के नीचे बैठे हैं। जिसके पत्तों की गणना करना कठिन है। इसी बात को विचारकर मन में क्लेश हो रहा है कि अभी आपके इतने अधिक भव संसार के पड़े हैं। मुनि खुश होते हैं और श्रावक को समझाते हैं कि इसमें अप्रसन्न होने की बात नहीं, खुशी मनाने की बात है। अनादि से कितने भव बीते सो क्या पता? अब यह तो निश्चय हो गया कि इतने ही भव शेष हैं अधिक नहीं। और भैया देखो इतने भी भव थोड़े काल में निकल सकते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में 66336 भवों से निपट लिया जाता है। अब मुमुक्षु को मोक्षमार्ग में प्रयत्न करने की सच्ची प्रेरणा हासिल करना चाहिये, घबड़ाहट तो कुछ काम भी नहीं। मोक्ष मार्ग में भी सम्यग्दर्शन जो खास महत्त्व रखता है, इसकी प्राप्ति के लिये कमर कस लेना चाहिये। जीव और शरीर का भेद विज्ञान और फिर आत्मस्वरूप का अनुभव जिस किसी तरह करने की चेष्टा पूरी-पूरी करना चाहिये। तब ही पुरुषार्थी कहलाओगे।

आत्मा का धर्म चैतन्य स्वभाव है जो मलिन है, न विमल है किन्तु अपने स्वभाव से ही सदा एक स्वभाव सर्वचिद्वृत्तियों का स्रोत है। उसकी दृष्टि से कार्यधर्म होता है। कारणधर्म की दृष्टि अथवा उपादत्ति बिना कार्यधर्म होता नहीं है। यह कार्यधर्म न पापवृत्तियों से प्रकट होता है और न पुण्यवृत्तियों से। किसी भी विचार से धर्म प्रकट नहीं होता। सनातन निर्मल स्वभाव की दृष्टि व उपादत्ति से निर्मल पर्याय प्रकट होती है। निर्मल पर्याय आकुलता के अनुभव से रहित पूर्ण सुखमय होती है। अत: सुख प्राप्ति के अर्थ अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वभावमय निज सहजसिद्ध भगवान के दर्शन करना चाहिये।

तत्त्वार्थ द्वितीय प्रथमसूत्र प्रवचन

(जबलपुर वर्षायोग 3 सितम्बर 1954 ई.)

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।।

जीव के पाँच असाधारण भाव हैं- 1-औपशमिक। 2-क्षायिक। 3-मिश्र। 4-औदयिक। 5-पारिणामिक।

जीवादि सात तत्त्वों की गिनती में जीव पर्यायदृष्टि की प्रधानता में लिया है। उस जीव के भाव, लक्षण, भेद, विषय, जन्म, योनि और शरीरादि का वर्णन होता है। जीव के विषय में लोगों की अनेक धारणाएँ हैं- कोई मात्र चैतन्य को ही जीव मानते हैं जो ज्ञानादि विशेषों से रहित है- तो कोई ज्ञान से पृथक् जीव को मानते हैं। कोई ज्ञान को प्रकृति (पुद्गल) तत्त्व से उत्पन्न हुआ मानते हैं, लेकिन जीव से ज्ञान का अविनाभावी सम्बन्ध है। वह उससे पृथक् कभी नहीं रहता। आत्मा की चेतना ज्ञान दर्शन से ही कहलाती है आत्मा चेतना से अभिन्न है या आत्मा ज्ञान दर्शन से अभिन्न है। इन दोनों का एक ही मतलब है। जीव के असाधारण भाव 5 हैं, जो सूत्र में बताये है। सूत्र में 5 भावों को एक पद में न कहकर कई खण्डों में कई प्रकार से कहा है, जिसमें अनेक आशंका समाधान हो जाते हैं। पहिले औपशमिकक्षायिकौ भावौ इन दो पदों में प्रकार और विशेष्य आ चुके तब ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र व सूत्र का मन्तव्य पूर्ण हो चुका, किन्तु अल्प विराम के बाद ही प्रयोग होता है मिश्रश्च अर्थात् और मिश्र भी भाव है और अनन्तर ही शब्द पड़े हैं ''जीवस्य स्वतत्त्वम्'' अर्थात् यह सब जीव का निज तत्व है। अब तो कुछ सन्देह सा नहीं रहता सूत्र के अधूरे रहने का। किन्तु पश्चात् ही प्रयोग हुआ ''औदयिकपारिणामिकौ च'' इस प्रकार 3 बार प्रयोग किये गये हैं जिससे कुछ आशंका सी होती है कि क्या आचार्य महाराज दो बार भूले हैं? परन्तु भैया ! बात बड़े रहस्य से पूरित है। यदि इस सूत्र को हम गत युद्ध काल के विजय चिह्न+विक्टरी में 5 भावों के संकेत करें तो खड़ी लाइन में औपशमि. क्षा., आड़ी में औद. मि. पा.।

क्षायिक

|

औद—मि.—पारि

|

औप.

इस चित्र में यह बात ध्वनित है कि आड़ी लाइन में आये हुये भाव भव्य अभव्य दोनों के होते हैं परन्तु खड़ी लाइन में आये हुए भाव भव्य के ही होते हैं। मिश्र दोनों में साधारण है अत: दोनों लाइन पर आता है। मिश्र में भी विभाग करना चाहें तो कुमति आदि जैसे भव्य अभव्य दोनों में साधारण है और सुमति आदि भव्य के ही होते हैं। इस चित्र में औपशमिक भाव नीचे लिखा और क्षायिक भाव ऊपर है जो

पहिले व बाद में होने के द्योतक हैं तथा औपशमिक भाव अधिक से अधिक 11 वें गुणस्थान तक जाता, परन्तु क्षायिक भाव सिद्धों में भी रहता है।

ये जिस क्रम से कहे गये हैं उस क्रम से करने में कई कारण हैं। एक कारण तो यह कि जीव के मोक्षमार्ग में आने के समय सबसे पहिले औपशमिक भाव होते हैं पश्चात् मिश्र सम्यक्त्व होकर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, और मोक्ष प्राप्त करने के लिये क्षपक श्रेणी माड़ने के समय चारित्रसम्बन्धी क्षायिकभाव का आरम्भ होता है व 12 वें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है व 13 वें गुणस्थान में क्षायिक ज्ञान आदि होते हैं तथा औपशमिक भाव से लेकर आगे आगे जो भाव बताये हैं उनका काल अधिक अधिक है (संसारी पर्याय की अपेक्षा से) अर्थात् औपशमिक से क्षायिक का, क्षायिक से क्षयोपशमिक का, उससे औदयिक का और औदयिक से पारिणामिक का समय अधिक है तथा एक कारण यह भी है कि औपशमिकभाव वाले सबसे कम हैं, उससे भी ज्यादा औदयिक आदि वाले व सबसे ज्यादह पारिणामिकभाव वाले हैं, उससे ज्यादा क्षायिक वाले। इसलिये भी इस क्रम से रखने की सार्थकता है। पारिणामिक भाव वाले तो सभी आत्मा है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धीचतुष्क इन पाँच प्रकृतियों की उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इनकी सत्ता नहीं पाई जाती। इनकी सत्ता तब होती है, जब वह (अनादिमिथ्यादृष्टि) सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और उसी क्षण मिथ्यात्व का दलन करके, कुछ निषेकों को सम्यग्मिथ्यात्वरूप , कुछ को सम्यक्प्रकृतिरूप कर देता है और कुछ निषेक मिथ्यात्वरूप ही रह जाते हैं। जैसे कोदों को दलने से, कुछ भाग उसका कोदोंरूप , कुछ छिलकारूप और कुछ चूर्णरूप हो जाता है। इस तरह अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्रकट होते ही प्रथम समय में सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति की सत्ता हो जाती है। इस तरह सम्यक्त्वघातक उस सप्तक की सत्ता हो गई। अब यह जीव या तो वेदक सम्यक्त्व प्राप्त कर ले या सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में आवे या द्वितीय गुणस्थान में पहुँचे या मिथ्यादृष्टि हो जावे, इन दशाओं में से कोई भी दशा हो सकती है। सो यदि मिथ्यादृष्टि हो जाय तो वहां सम्यक्त्वविरोधक सात प्रकृतियों की सत्ता भी है और मिथ्यादृष्टि भी है। यह जीव अब पल्य के संख्यातवें भाग काल तक प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं कर सकता। इस समय के बाद उद्वेलना होने से पहिले यदि प्रथमोपशम सम्यक्त्व करता है तब 7 प्रकृतियों के उपशम से करता हैं। हां, एक बात यहां विशेष है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व 7 प्रकृतियों के उपशम से ही होता है, सौर प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद यदि जल्दी उपशम सम्यक्त्व हो तो वह द्वितीयोपशमसम्यक्त्व होगा। इसमें कुछ भी अधिक काल जाने की आवश्यकता नहीं, अधिक भी जाय न जाय। प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् वेदकसम्यक्त्व हो तो उसके बाद द्वितीयोपशमसम्यक्त्व हो जाता तथा यदि प्रथमोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् मिथ्यात्व अवस्था में आवे तो वहां से वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त कर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में आ जावेगा। उपशम दबने का नाम है। कर्म प्रकृतियां जब उदय में नहीं आती, दबी रहती हैं तब उनका उपशम कहलाता है। जैसे गंदले जल में फिटकरी वगैरह डालकर उसको साफ किया, गंदलापन नीचे बैठ गया और स्वच्छ पानी ऊपर रह गया।

यदि जल का बर्तन हिले डुले या हवा आदि का संयोग मिले तो वह बैठी हुई गंदगी जल में मिलकर पानी को फिर गंदला कर सकती है। लेकिन जब तक गंदली चीज नीचे बैठी है तब तक ऊपर का पानी पूर्ण निर्मल होता है। इसी तरह दर्शनमोह व चारित्रमोह के उपशम समय में वह गुण पूर्ण निर्मल रहता है जिसका घातक निमित्त था। वहां इतनी विशेषता है कि उपशमकाल मात्र अन्तर्मुहूर्त रहता है इसके अनन्तर मलिनता आती है। क्षायिकभाव हमेशा निर्मल रहता है क्योंकि उसके समल होने का कोई कारण नहीं रह जाता। जैसे एक बर्तन में भरे गंदले जल को फिटकरी डालकर साफ किया, गंदली चीज नीचे बैठ गई, और पानी स्वच्छ हो गया। अब यदि वह स्वच्छ जल किसी दूसरे बर्तन में नितरा दिया जाय तो वह स्वच्छ जल हमेशा स्वच्छ ही है। क्योंकि उसे गंदा करने वाली चीज बिल्कुल अलग कर दी गई। इसी तरह आगे दर्शन चारित्र और ज्ञानादि गुणों को घातने वाले जो कर्म होते हैं, उनको जब पूर्ण क्षीण कर दिया जाता है तब वह गुण (भाव) हमेशा के लिये शुद्ध हो जाता है। ''कर्मों को क्षीण कर दिया जाता है'' यह व्यवहारभाषा है, उपयोग के पारिणामिक भाव में स्थित होने पर कर्मवर्गणाएँ स्वयं निर्जरा अवस्था को प्राप्त होती हैं। यहां यह विशेष समझना कि उपशम के पश्चात् ही क्षायिक भाव नहीं होता, क्षायोपशमिक के पश्चात् क्षायिकभाव का प्रादुर्भाव होता है। एक मिथ्यादृष्टि जीव यदि शीघ्रातिशीघ्र क्षायिक भाव में पहुंचे तो वह इस प्रकार पहूँचेगा जिसने सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति की उद्वेलना नहीं कर पाई ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि जीव 1 अन्तर्मुहूर्त में वेदकसम्यक्त्व को प्राप्त करे और 1 अन्तर्मुहूर्त में अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करे फिर एक अन्तर्मुहूर्त में दर्शन मोह का क्षय करे तो 3 अन्तर्मुहूर्त में क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रकट हो जावेगा सो 3 अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक भाव में पहुँच जाता। क्षायिकचारित्र की अपेक्षा क्षायिकभाव में पहुँचने के लिये 6 अन्तर्मुहूर्त और लगते हैं- 1-अप्रमत्तसंयमत, 2-प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानों में हजारों बार परिवर्तन, 3-सातिशय अप्रमत्त, 4-अपूर्वकरण, 5-अनिवृत्तिकरण, 6-सूक्ष्मसाम्पराय। इसके पश्चात् यथाख्यातसंयम हो जाता है। इस तरह मिथ्यादृष्टि 9 अन्तर्मुहूर्त में क्षायिक चारित्र में पहुँच जाता है। इसके बाद यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन व 5 क्षायिकलब्धि में पहुंचे तो 1 अन्तर्मुहूर्त क्षीण कषाय गुणस्थान वाला लगेगा। इस प्रकार समस्त क्षायिकभावों में पहुंचना 10 अन्तर्मुहूर्त में हो सकता है। उपशमसम्यक्त्व 1 अन्तर्मुहूर्त में व औपशमिक चारित्र 8 अन्तर्मुहूर्त में कर सकता है। इसको हम दवा और औषधि शब्द से भी समझ सकते हैं। यद्यपि दवा और औषधि का साधारण अर्थ एकसा ही होता है लेकिन दोनों के अर्थ में कुछ भेद भी दिखता है। दवा अर्थात् जो चीज रोग को दबावे, और औषधि माने जो रोग को निकाल दे। इस अर्थ से हम उपशम के लिये दवा और औषधि का उदाहरण दे सकते हैं। उपशम के लिये , क्षय के लिये अन्तरकरण किया जाता हैं। अन्तरकरण में उन अन्य कर्म निषेकों को कुछ आगे और कुछ पीछे कर दिये जाते हैं, जो उस काल की स्थिति के हों। सो उपशमकाल में उस स्थिति का वहां वह निषेक नहीं होता। द्वितीयोपशम में पहिले मिथ्यात्व का, फिर अनंतानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ का, फिर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का और फिर सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम होता है। इसी तरह चारित्र मोह के उपशम में पहिले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया

और लोभ- इन 8 प्रकृतियों का एक साथ उपशम करता है। फिर क्रम से नपुंसक वेद पश्चात् स्त्रीवेद, फिर हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, फिर पुरुषवेद, फिर संज्वलन क्रोध अनन्तर मान फिर माया फिर लोभ प्रकृति का उपशम करता है। इसी तरह का क्रम दर्शनमोह के क्षय में और चारित्रमोह के क्षय में होता है। ये कर्मों के उपशम और क्षय के कार्य वर्णन में बहुत गंभीर और विशाल मालूम पड़ते हैं, लेकिन चैतन्य-अनुभूति होने के समय में इनके लिये देर नहीं लगती।

प्रश्न- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये बुद्धिपूर्वक कोई प्रयत्न हो सकता है या नहीं?

उत्तर- तत्त्वाभ्यास करके वस्तुसामान्य की दृष्टि से भेद के विकल्प छोड़ना और वहां भेद विकल्प छूटकर अभेद स्वभाव के आश्रय से जो अनाकुल प्रतिभास होता है वह सम्यग्दर्शन का कारण है। यहां बुद्धिपूर्वक उपाय तो तत्त्वाभ्यास है। तत्त्व वह है जो सत् है। सत् स्वत: सिद्ध अनादि अनन्त एकस्व स्वभावी परिणमनशील है। सत् अनंतानन्त है- अनंतानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल अणु हैं, 1 धर्म द्रव्य, 1 अधर्म द्रव्य, असंख्यात कालाणु हैं। ये सब परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, वे सब प्रत्येक अनन्तशक्यात्मक हैं। इन शक्तियों को गुण कहते हैं। द्रव्य की अथवा गुणों की प्रतिसमय परिणति होती है। यह परिणमन उस ही द्रव्य का है, उससे भिन्न अन्य सब द्रव्यों का लेश भी सहकारित्व नहीं है, सब अपने आपमें परिणमते हैं। जो परिणमन है वह पर्याय है और जिसका परिणमन है वह स्वभाव है। यहां पर्याय जिससे प्रकट हुई है उसे देखो, यह हुआ निश्चय का अवलम्बन। यहां तक तो बुद्धिपूर्वक प्रयत्न हुआ, अब अनन्तर सर्व विकल्प छूटकर जो सामान्य-निर्विकल्प अनुभव होगा वह सहज है। इसके लिये एक उपाय यह भी है कि या तो वस्तु को त्रैकालिक असीम व्यापक देखो या एक समय की पर्याय को देखने का यत्न करो। यद्यपि आपका उपयोग एक समय की पर्याय को नहीं पकड़ सकता तथापि उसके जानने के यत्न से पर्यायदृष्टि छूटने का अवसर है, तब द्रव्यदृष्टि होकर निर्विकल्प होने का परिणमन हो जाता है।

क्षयोपशम भाव कुछ निर्मल और कुछ मलिन होता है। इसमें क्षय और उपशम की मिश्रण दशा है। वह ऐसे कि सर्वघातीस्पर्धकों का उदयभावी क्षय (जो कर्म उदय में आकर भी फल न दे सकें-ऐसा क्षय) और उन्हीं सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम (जो कर्म वर्तमान में अनुदय रूप से विद्यमान है) तथा देशघातीप्रकृति का उदय होना क्षयोपशम कहलाता है। जैसे- मतिज्ञानरूप क्षायोपशमिक भाव में सर्वघाती-मतिज्ञानावरण निषेकों का उदयाभावी क्षय, और फिर इन्हीं उदेष्यमाण सर्वघाती-मतिज्ञानावरण कर्मनिषेकों का सदवस्थारूप उपशम होने व मतिज्ञानावरण के जो देशघाती स्पर्धक है उनका उदय होने को मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम कहते हैं। और उस क्षायोपशमिक-मतिज्ञान के समय जो भाव होते हैं उन्हें मतिज्ञान-क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसी तरह दूसरे क्षायोपशमिक भावों में घटाना चाहिये। क्षयोपशम में सर्वघातीप्रकृतियों का उदय क्यों आवश्यक है? वह उस भाव में कुछ मलिनता पैदा करती है और क्षयोपशम भाव में उतनी मलिनता रहती है जितनी कि देशघाती प्रकृति के उदय होने पर होती है। निर्मलता होती है, सर्वघातीप्रकृति के उपशम और क्षय से, तब आंशिक समलता रहती है देशघाती के उदय से। अत: देशघाती का उदय होने पर क्षायोपशमिक भाव में बाधा नहीं आती।

क्षायोपशमिकता इन भावों में रहती है- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन , अवधिदर्शन, सम्यग्मिथ्यात्व, वेदकसम्यक्त्व, संयमासंयम, सराग चारित्र (महाव्रत), क्षायोपशमिक, दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्य। इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व वेदकसम्यक्त्व, संयमासंयम व सरागचारित्र को छोड़कर शेष सब भावों में क्षयोपशम की शैली पूर्ववत् लगा देना चाहिये। केवल इन चार में विशेषता है, वह यह है, 1- सम्यग्मिथ्यात्व तो सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होता है। इसका उदय क्षयोपशमवत् शिथिल है, इसलिये क्षायोपशमिक कहलाता है तथा यह भी कदाचित् कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति का उदयाभावी क्षय व उपशम एवं सम्यग्मिथ्यात्व का उदय रहने से क्षायोपशमिक है परन्तु निर्विवाद पहिली बात है। 2- वेदकसम्यक्त्व में अनंतानुबंधी 4 व मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय व उपशम तथा सम्यक्प्रकृति का उदय रहता है। 3- संयमासंयम में अप्रत्याख्यानावरण 4 का उदयाभावी क्षय व उपशम तथा प्रत्याख्यानावरण का उदय रहता है। 4- सरागचारित्र में प्रत्याख्यानावरण 4 का उदयाभावीक्षय व उपशम तथा संज्वलनकषाय का उदय रहता है। इस तरह ये सभी क्षायोपशमिक भाव कुछ स्वच्छता और कुछ मलिनता को लिये हुए हैं। आत्मा के ये परिणाम कर्मों की परिणति से नहीं बनते हैं आत्मा के चतुष्टय से बनते हैं, कर्मों की परिणति निमित्तमात्र है।

जीवविपाकी कर्मप्रकृतियों के उदय होने पर जो जीव के भाव होते हैं उन्हें औदयिकभाव कहते हैं। जीवविपाकी के अतिरिक्त अन्य प्रकृतियों के उदय से जो भाव होता है वह भी औदयिकभाव है परन्तु उनकी यहां विवक्षा नहीं है। आठों कर्म के उदय से होने वाला असिद्धभाव भी औदयिक है। जो भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम की अपेक्षा न रखें उन्हें पारिणामिक कहते हैं।

उनमें जीवत्व भाव आयु के कारण से नहीं हैं। यदि ऐसा माना जाय तो सिद्ध आयुकर्मरहित होने के कारण जीवत्वहीन अजीव माने जावेंगे। कोई कहे कि अभव्यत्वभाव मिथ्यात्ववादि कर्मों के उदय से होता है? नहीं। अभव्यत्व पारिणामिक भाव है क्योंकि जो नहीं होना उसका यह द्योतक है। मिथ्यात्व आदिक औदयिक भाव होते हैं। यहां भी ये विभाव अपने गुण के विकार से होते हैं। इसी तरह भव्य को मुक्ति अवस्था प्राप्त होने में, मोह का उपशम क्षयादि कारण नहीं है? वस्तुत: वह तो अपने स्वभावविकास से ही विभावों से मुक्त हुआ है। कर्मों के क्षयादि से जो मुक्ति की बात कही जाती है वह उपचार से कही जाती है, निमित्त की प्रधानता से, लेकिन यथार्थ में जीव का पारिणामिक भाव ही उसकी मुक्ति होने का मूल कारण है। जीव द्रव्य प्रत्येक एक अखंड सत् है उसका स्वभाव भी एक है। द्रव्य प्रतिसमय परिणमता है, प्रतिसमय परिणमकर भी जीव द्रव्य वही एक है, स्वभाव भी प्रतिसमय परिणम कर भी वही है। जीव में और स्वभाव में अभिन्नता है, दो सत् नहीं है, जीव गुणी है, स्वभाव गुण है। इस स्वभाव का नाम पारिणामिक भाव है। इस चैतन्यभाव, ज्ञायकभाव, जीवत्वभाव आदि अनेक शब्दों से कहते हैं, यह पारिणामिकभाव जो वस्तु के सत् में स्वभाव ही पड़ा है वह स्वत: सिद्ध है; कर्मों के उदय, क्षय अथवा क्षयोपशम से नहीं हुआ है, यह तो जीव का त्रैकालिक आत्मभूत परिणाम है। इसकी दृष्टि मोक्ष का कारण

है। वैसे तो जो परिणमे सो उस परिणाम का कारण है- इस न्याय से मोक्ष का कारण पारिणामिकभाव होता है परन्तु इस शैली से तो पारिणामिकभाव संसार अवस्थारूप भी परिणमने के कारण संसार का कारण बन जाता है। पारिणामिकभाव सभी अवस्थाओं में है अत: उसे सबका कारणपना है किन्तु पारिणामिकभाव की दृष्टि मोक्ष का ही कारण है। इस जीव ने अनंतकाल संसारभाव में व्यतीत कर दिया परन्तु निज पारिणामिकभाव का परिचय न किया पारिणामिकभाव की दृष्टि स्वयं औपशमिक या क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक है तथापि इसका विषय इन भावरूप नहीं, वह पारिणामिकभाव ही है।

जीव के 53 भावों में से जीवत्व भाव ही एक चेतन-सत्-स्वरूप भाव कर्म निरपेक्ष है। क्षायिक भाव आत्मा के होते हुए भी उसमें कर्मक्षय निमित्त है। सांख्य ने जीव के एक इसी ही भाव को माना है। बाकी 52 भावों को प्रकृति के कार्य मानता है। चैतन्यरूप प्रधान को ज्ञान से भिन्न मानता है और क्रोध लोभ आदि विकृतियां वह प्रकृति की ही मानता है। प्रधान माने चेतनवान् आत्मा और प्रकृति माने जड़-पुद्गल। उस प्रकृतिरूप पुद्गल से महान् अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति मानता है। ज्ञान को महान् मान लेना तो उसका ठीक है, क्योंकि ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद अर्थात् शक्तिअंश सबसे ज्यादा हैं। लोक में अनंतानंत जीव हैं, उनमें भी असंख्यात गुणे उनके प्रदेश व पुद्गल, उनसे भी अनंतगुणे तथा असंख्याते कालद्रव्य, धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य के असंख्याते प्रदेश, आकाश द्रव्य के अनन्ते प्रदेश हैं। उनके प्रदेश व इन सबका विरलन कर आपस में गुणा किया जाय, उससे कई गुणे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद है। ऐसी महानता होने से सांख्य ने उसे महान नाम से स्वीकार किया है। सौख्यदर्शन महान से अहंकार और अहंकार से इन्द्रियां आदि पैदा होना मानता है और इन सबको प्रकृति के कार्य-कर्म मानता है, लेकिन ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है। इनमें कोई जीवरूप हैं कोई अजीवरूप। उसमें जो जीव की अवस्था है उसे जीव की परिणति मानना ही ठीक है। औपशमिक आदि भाव जड़ के नहीं हो सकते, वे जीव के ही हैं। भव्यत्व अभव्यत्वभाव भी पारिणामिक है। रत्नत्रय के विकास होने योग्य को भव्य कहते हैं और भव्य के भाव को भव्यत्व कहते हैं। रत्नत्रय का होना तो औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक है और रत्नत्रय का विपरीत परिणमन औदयिक है परन्तु कोई जीव इसे प्राप्त कर सकेगा ऐसा भाव पारिणामिक है। जो जीव अनंत भवों के व्यतीत होने पर अनंतकाल के पश्चात् मोक्ष जावेगा वह भव्य अनादि से ही कहलाता आया है जो मोक्ष न भी जा सकें किन्तु योग्यता है तो वह भी अनादि से भव्य कहलाता आया है, यह दूरातिदूर भव्य है। जो रत्नत्रय के विकास के योग्य नहीं है वह अभव्य है, अभव्य में रत्नत्रय की शक्ति है परन्तु विकास की योग्यता नहीं। यदि रत्नत्रय की शक्ति न हो तो फिर अभव्य के सम्यक्त्वघातक ज्ञानावरण व चारित्रचारक प्रकृतियों के असत्त्व का प्रसंग होगा, जैसे यदि अभव्य के केवलज्ञान की शक्ति नहीं तो केवलज्ञानावरण कर्म अभव्य के मानने की आवश्यकता नहीं। ये भव्यत्व और अभव्यत्वभाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं रखते इसलिये पारिणामिक हैं, किन्तु हैं अशुद्ध पारिणामिक क्योंकि अविभाग प्रतिच्छेद वाले स्वभाव ये नहीं हैं। ये दोनों परस्पर विरुद्धभाव है, इसी कारण एक जीव में ये दोनों नहीं होते तथा सिद्ध होने पर भव्यत्वभाव भी नहीं रहता। जीवत्व दो प्रकार का है- 1 चैतन्यरूप, 2

प्राणरूप। इनमें चैतन्यरूप जीवत्व शुद्धपारिणामिक है। इसकी दृष्टि मोक्ष का मार्ग है, इसका आश्रय मोक्षपन्थ है।

इस काल में इन पाँच भावों में अपने पारिणामिक क्षायोपशमिक और औदयिक व औपशमिक भाव हैं। उपशम सम्यक्त्व होने के समय औपशमिक भाव होते हैं। क्षायिक भाव नहीं है, क्योंकि पहिले का क्षायिक सम्यक्त्व लेकर यहां इस काल में पैदा नहीं होता और नया पैदा होने लायक आज के यहां के जीवों के भाव नहीं होते, जिन निर्मल भावों को योग्यता व केवली भगवान या श्रुतकेवली की निकटता आवश्यक है जो कि आजकल दुर्लभ है। आजकल द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी नहीं होता।

हमको अपने इन भावों की पहिचान और जानकारी रहनी चाहिये। अपनी ही चीज अपने समझ में ना आवे ऐसा क्यों?

अपने स्वरूप और भावों की चाल न समझने से हमें संतोषप्रद सुखसाधन न मिल सकेगा। मांगने से वे न मिलेंगे। वे मिलेंगे अयाचक वृत्ति आने पर, यह वृत्ति आयेगी स्वरूप पर पहुँचने से। यही कारण है कि जो मांगता है उसे नहीं मिलता और जो नहीं मांगता उसे मिलता है- ऐसा व्यवहार लोक में भी हो गया है। जैसे अरहंत ने लक्ष्मी को त्याग दिया तो वह उनके पीछे पीछे दौड़ी। समवशरण, छत्र, चमर, सिंहासन, परम औदारिक शरीर आदि रूप से उनके पीछे लगती तो भी अरहंत, इन सबसे अलिप्त अपने उपयोग में ही रहते हैं। क्षायिक लब्धियां उनकी उनमें ही हैं।

सिद्धों के जो क्षायिक चारित्र प्रकट होता है, सो उनके आठ गुणों में इसका नाम क्यों नहीं लिया? सो समझो।

चारित्र का लक्षण क्या है- असुहादो विणिबित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। अशुभ से शुभ में, शुभ से शुद्ध में आना चारित्र है सो सिद्ध, ऐसी क्रियारूप चारित्र से रहित हैं। कल्पना जल्पना और चलपना सिद्धों में नहीं है। ये तो क्रम से मन, वचन और काय से, होने वाले व्यापार निचली अवस्थाओं में हैं। अत: सिद्धों का चारित्र ज्ञान और सुख आदि परिणमन रूप है, निर्विकल्प, सच्चिदानन्दमय है। इसलिये चारित्र को प्रथक्रूप से नहीं कहा। क्षायिक ज्ञान आदि भेद भी अरहंत, सिद्धों के व्यवहार से हैं। निश्चय से- कर्मों के क्षयादि की अपेक्षा के बिना भगवान निर्विकल्प, सत्-चित् आनन्दमय है। पाँच भावों में पारिणामिक भाव केवल शुद्ध जीवत्व भाव में हैं। हम संसारियों के कर्मों के उदय क्षयोपशम आदि से औदयिक, मिश्र भाव होते हैं जो कि हमारी हीनता के द्योतक हैं। हम मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करें तो कोई वजह नहीं जो हम कर्मनिमित्तक भावों में ही विचरा करें, पारिणामिक भावों में निश्चल न हो सकें।

यह द्वितीय अध्याय है। पहिले में मोक्षमार्ग का सामान्यरूप से वर्णन किया था, वह भी प्रथमसूत्र में इस द्वितीय अध्याय में मोक्षमार्ग का भेद प्रभेदों में संकेत है इस सूत्र में। सो इसके दो रूपक प्रतिभास होते हैं कि पहिले तो द्रव्यार्थिकनय से कहा था यह पर्यायार्थिकनय से संकेत है अथवा पहिले सूत्र के अनुकूल मोक्षमार्ग में प्रवेश करने वाले के क्या क्या विलास होते हैं उनका इस सूत्र में वर्णन है। जिन सूत्रों का प्रयोजन सर्व अर्थ वर्णन करके भी यही रहता है कि आत्मन् ! अपना सत्य सुख चाहो तो एक निज

चैतन्य की प्रतीति कर, उसके आश्रय से तेरा मोक्षमार्ग बनेगा। जिसको लखकर तू निर्विघ्न परम सुख के स्थान पहुँचेगा वह तू स्वयं अनादि से स्वत:सिद्ध है। मोक्षमार्ग के लिये किसी पराश्रय की आवश्यकता नहीं, पर के आश्रय तो बाधक हैं। सर्वविकल्पों को तोड़कर निज पारिणामिक भाव में उपयोग की स्थिरता करना ही कल्याण का मूल है निज स्वभाव को स्वरूपदृष्टि से देख, वह न किसी से बंधा है, न छुवा है, न छिन्न भिन्न है, वह एकस्वरूप है। ऐसा न देखकर असमानजातीय इस पर्याय में आत्मबुद्धि करके तथा समानजातीय इन पर्यायों में ममत्वबुद्धि करके तथा इसी हेतु कर्तव्यबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि करके ही प्राणी आकुलित हुआ है। अब सर्व अध्रुवभावों को छोड़कर निज पारिणामिकभाव स्वरूप चैतन्यप्रभु की उपासना करो।

जगत् में जानने वालों की कमी नहीं है, बड़े बड़े अविष्कारक लोग अद्भुत खोज कर चुके हैं, करने जा रहे हैं परन्तु खोज करने वाला स्वयं क्या है, इसकी यथार्थ जानकारी बिना जन्म मरण शरीर ममता आदि के दु:ख नहीं मिट सकते, वह तो आकुलित रहेगा। वीतराग महर्षियों की वाणी का हुक्म बजाये बिना, दु:ख दूर नहीं हो सकता। यहां जीव के ये 5 स्वतत्त्व कहे हैं। ये जीव में ही होते, अजीव में नहीं होते। इसलिये जीव के तत्त्व हैं परन्तु भूतार्थदृष्टि से देखो तो एक शुद्ध जीवत्व को छोड़कर अन्य तत्त्व नहीं ठहरते हैं। औदयिक तो प्रकट अतत्त्व है, विकार है, औपशमिक भी उपशम से हुई चीज है सो तत्त्व नहीं, तत्त्व होता तो चैतन्य प्राण से अलग एक भी समय न रहता। क्षायोपशमिक भी विकृताविकृत व अपूर्ण अवस्था है। क्षायिक भाव अत्यंत निर्मल होकर भी क्षयनिमित्तक होने से एक उपाधिपना है। क्षायिक भाव एक बार उत्पन्न होने के बाद जो अनन्तानन्तकाल तक निर्मलप्रवाह से बहता है बस वह परिणाम- पर्याय होने से जीव का अनादि अनन्त स्वभाव नहीं ठहरता। भव्यत्व अभव्यत्व तो पर्यायशक्तिरूप पारिणामिक होने से अशुद्ध पारिणामिक है। अब किस एक को निहारा जावे? ये तो गुथे गुथाये सब बिखरे जा रहे हैं बिखर गये हैं। सो भैया इन सब पर्याय में रहने वाला एकस्वरूप अखंड अहेतुक अनादि अनन्त शुद्ध जीवत्वरूप परमपारिणामिक भाव को निहारो, इससे निर्मल पर्याय का प्रवाह बढ़ चलेगा और जिसको न जानते हुए भी जिसकी खोज में सब भटक रहे हैं वह परमपद सहज आनन्दमय स्वत: प्रकट होगा।

तत्त्वार्थ तृतीय प्रथमसूत्र प्रवचन

(4 सितम्बर 1954)

रत्नशर्कराबालुकांपकधूमतमोमहातमः प्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः।।1।।

जीवों का निवास तीन लोकों में है जिसमें तीसरा अध्याय अधोलोक और मध्य लोक का वर्णन करने वाला है। इन दोनों में से अधोलोक का वर्णन इसलिये पहिले किया कि नरक में दु:खों का वर्णन सुनकर जीवों की धर्म में रुचि होगी।

जिस पृथ्वी पर हम लोग रहते हैं, इससे नीचे पहिले पृथ्वी है अथवा यों कहिये कि पहिली पृथ्वी के ऊपर ही कुछ चढ़े हुए मुलम्मे पर हम रहते हैं। उसके नीचे दूसरी और इसी तरह एक के नीचे एक करके 7 पृथ्वी हैं। लेकिन ये नरक एक से दूसरे सटे हुए नहीं हैं। बीच में कुछ कम एक एक राजू का अंतर है, इस तरह 6 राजू में सात नरक और सबसे नीचे एक राजू में निगोदस्थान है। यहां कोई त्रस जीव नहीं है अत: इसका नाम निगोदस्थान रख दिया है। पहिली पृथ्वी 1 लाख 80 हजार योजन मोटी, दूसरी 32 हजार योजन, तीसरी 28 हजार योजन, चौथी 24 हजार योजन, पांचवीं 20 हजार योजन, छठी 16 हजार योजन और सातवीं 8 हजार योजन मोटी है। बीच में जो लगभग एक एक राजू का अंतर कहा है, उस एक एक राजू में उक्त अपने अपने नरकों की मुटाई का माप कम हो जाता है। नरकों को पृथ्वी भी कहते हैं। इनके नाम हैं:- 1 रत्नप्रभा, 2 शर्कराप्रभा, 3 बालुकाप्रभा, 4 पंकप्रभा, 5 धूमप्रभा, 6 तम:प्रभा और 7 महातम:प्रभा। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं यह पहली पृथ्वी का ऊपरी भाग है किन्तु अधोलोक एक हजार योजन नीचे से ही शुरू है।

रत्नप्रभाभूमि के 3 खंड हैं- 1 खर भाग, 2 पंक भाग और 3 अब्बहुलभाग। इनमें से खरभाग 16 हजार योजन मुटाई में है जिसमें ऊपर और नीचे का एक एक हजार योजन छोड़कर बीच के 14 हजार योजन में असुरकुमार भेद छोड़कर 9 तरह के भवनवासी और राक्षस भेद छोड़कर 7 प्रकार के व्यंतर रहते हैं। इसके 84 हजार योजन मोटे पंक भाग में असुरकुमार और राक्षसों का निवास है और अब्बहुलभाग में जो कि 80 हजार योजन मोटा है नारकियों का निवास है। नरक का प्रारम्भ अब्बुहल भाग से ही समझना चाहिये। इन भूमियों का आधार क्या है? इसके उत्तर में गई मत हैं। कोई कहता है कि कछुये की पीठ पर पृथ्वी खड़ी है तो कोई शेषनाग के फण पर तो कोई बैल के सींग पर कोई शूकर के सहारे तो कोई कील के आधार पर मानते हैं। लेकिन इनमें से किसी एक को भी पृथ्वी का आधार मानने से फिर प्रश्न उठता है कि वह किसके आधार पर है। यदि वह स्वयं इतनी भारी पृथ्वी का भार लिये निराधार है, उसके नीचे कुछ नहीं है तो ऐसा होने में क्या हेतु है? सो नहीं कहा जा सकता। यदि उसका आधार कोई और चीज मानें तो फिर वही प्रश्न होता है कि वह किस आधार पर है? इस तरह प्रश्न की लड़ी खत्म नहीं होती, अनवस्था दोष अपनी अपनी जगह पर खड़ा रहता है। अत: उन भूमियों का आधार और भूमियों का ही

नहीं सारे लोक का नीचे का आधार जो 20-20 हजार योजन मोटी 3 हवाओं को माना है वह ही ठीक उतरता है। उन हवाओं के नाम हैं- 1-घनोदधि वातवलय, 2-घन वातवलय और 3-तनु वातवलय। ये वातवलय तो लोक के नीचे हैं किन्तु प्रत्येक पृथ्वी के नीचे भी ये वातवलय है और वे भी प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन के हैं।

सातवीं पृथ्वी तो कुछ कम सात राजू लम्बी है और ऊपर की पृथ्वी एक एक राजू लम्बाई में घटती है। पहिली पृथ्वी एक राजू लम्बी है। वातवलय भी पृथ्वी के लम्बाई के अनुरूप लम्बे चले गये हैं। वातवलय पृथ्वी के चारों ओर भी हैं सो चारों ओर के वातवलय यथायोग्य अल्प अल्पविस्तार के हैं ये पृथ्वियां हवा के आधार पर स्थित हैं। युक्ति यही कहती है कि वजनवाला पदार्थ निराधार तो ठहरता नहीं है और उसका आधार मूर्त अन्य अन्य पदार्थ मानते चले जायेंगे तो चले जावो, ठीक भी है परन्तु किसी आधार का तो अन्त आ ही जावेगा क्योंकि मूर्त पदार्थ है तो अन्त में उसका आधार हवा ही सिद्ध होगा। समीप लगी हुई जो हवा है वह गाढ़ी और शीतता को लिये हुए होती है, उसके बाद की हवा शीतता से तो रहित है किन्तु गाढ़ी होती है और उसके बाद की हवा सूक्ष्म होती है तभी तो आखिरी हवा का वर्ण व्यक्त नहीं होता, मध्य की हवा का वर्ण गौमूत्र जैसा होता है और पहिली हवा का वर्ण मूंग के छिलके के समान होता है। देखो भैया वीतराग ऋषियों ने जो वर्णन किया वह सब सत्य है चाहे हमें अल्पबुद्धि के कारण समझ में न आवे परन्तु बड़े बड़े वैज्ञानिक इसे साईंस के आधार पर समझ भी जाते हैं।

पहिला वातावलय जलमिश्रित है, दूसरा जलरहित स्थूल वायु का है और तीसरा वातवलय अतिसूक्ष्म हवा का है। पहिला वातवलय दूसरे पर, दूसरा तीसरे पर आधारित है और तीसरा अति सूक्ष्म हवा का वलय आकाश के आधार पर है और आकाश स्वयं अपने आधार पर है।

पृथ्वी का आधार जो नाग को बतलाया जाता है उसका अर्थ यदि किया जाय तो न+अग। न गच्छतीति अग:- जो नहीं जाता स्थिर रहता है वह अग कहलाता और जो अग न हो अर्थात् स्थिर न रहे वह नाग कहलाता है, ऐसी चीज हवा ही उपयुक्त है। जो कि पृथ्वी का आधार युक्तियुक्त उतरता है।

रत्नप्रभा आदि जो पृथ्वी के नाम हैं वे सार्थक हैं। उन उन नरकों में वैसी वैसी प्रभा या वर्ण रहता है, इसलिए उनका नाम वैसा पड़ा। इन पृथ्वियों में बिल हैं, ये बिल बीचों बीच हैं। अर्थात् बिलों का मुख या द्वार न पृथ्वी के ऊपर से है, न बीच से है और न किसी दिशा से है परन्तु जैसी मोटी लकड़ी में बीच में कोई पोली या छिद्र हो तो जैसे वह मध्य में है उसका द्वार किसी ओर नहीं है ऐसे ही बिल हैं सो पहिली पृथ्वी में 30 लाख बिल हैं, दूसरी में 25 लाख, तीसरी में 15 लाख, चौथी में 10 लाख, पांचवीं में 3 लाख, छठी में पाँच कम एक लाख, सातवीं में 5 बिल हैं। ये सब मिलकर 84 लाख बिल हैं। ये बिल बड़े विस्तार वाले हैं। कोई एक लाख योजन के विस्तार का है, कोई कोई 5-10 लाख योजन के विस्तार के हैं, कोई करोड-अरब योजन के विस्तार के हैं, कोई अनगिनते योजन के विस्तार के हैं पहिले नरक के बिल नीचे ऊपर 13 सतह में हैं, दूसरे नरक के बिल 11 सतह में हैं, तीसरे नरक के बिल 9, चौथे के

7, पांचवें के 5, छठे के 3 सतह में बिल हैं और सातवें के 5 बिल एक ही सतह में हैं। इन्हीं सतहों को पटल कहते हैं।

सातों नरकों के 49 पटल हैं, एक पटल (सत) से दूसरे में काफी अन्तर है। प्रत्येक पटलों में 1 बिल बीचों बीच होता है जो इन्द्रक कहलाता है। ये इन्द्रक बिल सब 49 हैं इनके नाम ये हैं- सीमंत, णिरय, रौरव, भंत, उब्भंत, संभंत, असंभंत, वीभंत, तत्थ, तसिद, वक्कंत, अवक्कंत, तदग, थणग, वणग, मसग, खडा, खडिगा, जिह्वा, जिब्भिग, लोलिग, लोलवत्थ, थणलोल, तत्त, तविद, तवण, तापण, णिदाघ, उज्जिलिद, पज्जलिद, संजलिद, आरा, मारा, तारा, चच्चा, तमगी, घाडा, घडा, तमगा, भमगा, झषण, अद्धिंद, तिमिसा, हिम, वद्दिल, लल्लकि, ओहिट्ठाण। फिर उस इन्द्रक के दिशाओं और विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल होते हैं और यत्र तत्र प्रकीर्णक होते हैं। इन सबकी संख्या 84 लाख की है। पहले पटल में श्रेणीबद्ध 49-49 हैं, नीचे एक एक कम होते गये हैं। एक बिल दूसरे से काफी अंतर पर होता है। और कोई बिल संख्यात योजन का और कोई असंख्यात योजन का होता है। एक एक बिल में असंख्याते असंख्याते नारकी रहते हैं, जहां कि वे अपने किये हुए पापों का फल लम्बे समय तक लगातार भोगते रहते हैं दु:खों का तांता ऐसा लगा रहता है कि एक क्षण भी चैन नहीं ले पाते, क्योंकि यहां का वातावरण ऐसा ही है। उनका शरीर महान् विकराल और एक साथ कई रोग जिसमें बने रहते हैं ऐसा होता है, उनके परिणाम इतने कुटिल होते हैं कि निरंतर क्रोध की अग्नि जलती ही रहती है। उनके कषाय भाव अति तीव्र होते हैं। वे वहां की प्रकृतिजन्य असीम शीत, गर्मी, भूख, प्यास और दु:खद पृथ्वी का ही दु:ख नहीं भोगते, किन्तु आपस में भी भिड़ते रहते हैं, मरते, कटते, चीरते, छीलते रहते हैं तथा घन वरछी, मुद्गर आदि की ताड़ना करते रहते हैं। उनके लिये हथियार स्वयं उनके अंग हो जाते हैं, उनका वैक्रियक शरीर है, वे अपने कुटिल भावों के अनुसार जिस हथियार की इच्छा करते हैं उनके हाथ पैर ही उस रूप हो जाते हैं। वे सर्प, बिच्छू, शेर वगैरह का रूप भी अशुभ विक्रिया से बना लेते हैं। उनके शरीर के लाख टुकड़े भी हो जावें तो भी आयु के बीच में उनका मरण नहीं होता, पारे के समान वे टुकड़े फिर मिलकर संघातरूप हो जाते हैं।

इतना ही नहीं उनको अंबाबरीष जाति के देव भी तीसरे नरक तक के नारकियों को पूर्व भवों की बातें (बैर विरोध की) याद दिलाकर लड़ाया करते हैं और उनकी लड़ाई देखकर खुश होते हैं। उन नारकियों की आयु भी लम्बी होती है सागरों तक की। सागर का प्रमाण बहुत बड़ा हैं- जैसे कल्पना करो कि एक गड्ढा एक योजन के विस्तार वाला है, उसमें अधिक से अधिक कोमल रोम और वह भी इतना छोटा कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके ऐसे रोम भर दिये जावें, खूब ठोककर भरे जावे। ये रोम 45 अंक प्रमाण होंगे। अब कल्पना करो कि 100-100 वर्ष में एक रोम निकाला जावे जितने वर्षों में सब रोम निकल आवें इतने समय को तो कहते हैं व्यवहार पल्य। इससे असंख्यात गुणा काल उद्धारपल्या का होता और उद्धारपल्यकाल से भी असंख्यातगुणा काल अद्धापल्य का होता। एक करोड अद्धापल्य को एक करोड अद्धापल्य से गुणा करो, इसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे 10 कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर होता है। पहिले नरक के नारकी कम से कम 10000 वर्ष और अधिक से अधिक 1 सागरकाल

पर्यंत दु:ख भोगते हैं। दूसरे नरक के नारकी की आयु कम से कम 1 सागर, अधिक में 3 सागर, तीसरे में कम से कम तो 3 सागर अधिक से अधिक 7 सागर, चौथे में कम से कम 7 सागर अधिक से अधिक 10 सागर, पांचवे नरक में नारकी की आयु कम से कम 10 सागर, अधिक से अधिक 17 सागर, छठे में कम से कम 17 सागर व अधिक से अधिक 22 सागर व सातवें नरक के नारकी की आयु कम से कम 22 सागर अधिक से अधिक 33 सागर की होती है।

सागर की इतनी बड़ी गिनती है कि अपनी आयु यदि, अरबों बरसों की हो तो भी अरबों खरबों, अनगिनी, पर्यायें निकल सकती हैं, सागर में। देखो भैया? मनुष्य और तिर्यञ्च अवस्था की थोड़ी सी आयु में किया गया थोड़ा सा पाप, अत्यधिक समय तक अत्यधिक वेदना को फलता है।

एक समय में किये गये तीव्र मोह के फल से 70 कोड़ाकोड़ी सागर तक को मोहनीय कर्म बंध जाता है। इसी तरह यथायोग्य अन्य कर्मों की स्थिति भी समझना इसका वर्णन आठवें अध्याय में आवेगा। इन कर्मों के बाबत यह नहीं समझना कि 70 कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पड़ी तो कुछ समय कम 70 कोड़ाकोड़ी तक आराम रहेगा, इसके बाद ही फल मिलेगा। भैया एक समय में जो कर्म बँधते हैं उनमें अनंत कर्मवर्गणायें होती हैं सो आबाधाकाल छोड़कर आगे प्रत्येक समय में वे वर्गणायें थोड़ा-थोड़ा करके उदय में आती रहती हैं और ऐसे कर्म प्रतिसमय बंध रहे थे सो सबका हिस्सा प्रत्येक प्रत्येके समय में यथा योग्य मिलता है। सो भैया निमित्तदृष्टि से देखो कितनी उलझन लगी है परन्तु वस्तुत: उलझन अपने खोटे परिणामों की है। कर्म तो हमारे कषायों को निमित्त पाकर बंधते हैं और यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म यथायोग्य उदय में आ रहे हैं परन्तु तुम उनसे व कर्मों के उदय को निमित्त पाकर होने वाले विभावों से भिन्न निज स्वभाव को पहिचानों और उस ओर ही रहो तो कर्म शिथिल होगा और यथा शीघ्र सब निकल जावेगा। किन्तु यदि अपने स्वभाव से विमुख होकर कर्म के उदय में जुड़ेगा तो ये ही संसार के क्लेश रहेंगे।

खोटी श्रद्धा और रुचि के बल पर जो अन्याय, अत्याचार, विषयसेवन और अभक्ष्यभक्षण किया जाता है वह नरक के दु:ख भोगने के लिये होता है। हठी प्राणी, अभिमान करता है, अपनी झूठी चतुराई का, वर्तमान में प्राप्त तुच्छ वैभव का, यह मूढ़ आनन्द मानता है। दूसरों को दु:खी करने में, ठगने में, विश्वासघात करने में, परवस्तु के अपहरण में और आनन्द मानता है अपने शरीर, परिवार, गृह और धनादि परिग्रह में। लेकिन वह यह भूल जाता है, कि बुरे का फल बुरा ही होता है। कई प्राणी पाप करते हुए भी यहां जो सुखी देखे जाते हैं, वे पहिले के कोई बड़े पुण्य से ऐसे रहते हैं लेकिन वर्तमान का किया हुआ पाप अब नहीं तो तब अपना फल दिये बिना नहीं छोड़ेगा। उनको नरक की यातनाएं सहना ही पड़ती हैं। इसको हर कोई मनुष्य समझ सकता है कि थोड़े समय की थोड़ी सी भूल, बहुत लम्बे समय तक के लिये कितनी दु:खदाई हो जाती है। अपने वा दूसरे के प्रति किया गया थोड़ा सा दुर्व्यवहार (अदया, छल, विश्वासघात, बैर विसंवाद आदि) इस जन्म में भी कितना घातक होता है। इतना ही नहीं कि एक बार नरक के उन असह्य दु:खों को भोगकर दु:ख से पीछा छूट जाता हो सो भी नहीं, किन्तु उस पर्याय में जो पाप बांधा है उस परंपरा से अनेकों बार, अगणित बार तिर्यञ्च और नरकगति के दु:ख भोगते रहना पड़ता

है। ऐसे दु:ख भोगने का तांता सुदीर्घ काल तक चलता रहता है। जब कभी बोध आता है और कर्तव्य सुधारना है तब कोई अच्छी मनुष्यादि की योनि, पाता है। अब हमारा क्या कर्तव्य है? सो स्वयं निर्णय कर लें।

कम से कम नरकभव यदि इष्ट न हो तो नरक के आश्रय से तो बचें पूज्य श्रीमद्उमास्वामी ने कहा है कि ''वह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:'' बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रहपन नरकायु का आश्रव है अर्थात् बहुत आरंभ व बहुत परिग्रह के परिणाम से नरकायु बंधती है और वर्तमान आयु के क्षय होते ही नरक में आना पड़ता है। मोटे रूप से आरम्भ कहते हैं काम काज व्यवहार धंधा को, ठीक है, परन्तुनिश्चय से देखो तो बहुत धंधों के करने के या उनके सम्बन्ध में जो परिणाम बने रहते हैं, उन्हें आरम्भ कहते हैं। कोई निर्धनता के कारण बहुत धंधों की सुविधा नहीं पाते हैं किन्तु विचारों का तांता बनाये रहते हैं, वह भी बहुत आरंभी हैं। इसी प्रकार मोटे रूप में परिग्रह कहते हैं। धन धान्य मकान परिवार के समागम को, परन्तु निश्चय से विचारो तो मूर्च्छाभाव ही परिग्रह है। जिनके संपत्ति का समागम नहीं किन्तु मूर्च्छापरिणाम बन रहा है तो वह परिग्रही ही है। अब यहां अपने अन्तर में विचारिये कि बाह्य पदार्थों का आश्रय लेकर उनके आरंभ का विचार व उनमें ममत्वभाव है या नहीं। यदि है तो इसकी दाह को निज स्वभाव की दृष्टिरूप सुधारस के पान से तुरंत मिटावो। यदि हम अपने आपके स्वभाव की दृष्टि करेंगे तो सभी आयु से अतीत होकर शाश्वतसुखी अमर हो सकते हैं। यदि संस्थानविचय के लोक व काल के विचार संसार से भय कराते हैं तो रूपातीत निजध्यान हमें शरण दे देता है। भगवान की आज्ञा से श्रद्धान करो व युक्ति अनुभव से वस्तुमर्म को प्रमाणित करो।

आज के विज्ञानवादी खोज में नरक तक तो पहुँच नहीं पाये लेकिन यहां भी 30, 32 हजार कोश घेरे के जमीन तक जो पहुँच हो पाई है उसके आधार पर पृथ्वी के सम्बन्ध में अपनी गलत धारणाएँ बना बैठ हैं। वे पृथ्वी को गेंद के समान गोल मानते हैं और चलती हुई (चक्कर लगाती हुई) मानते हैं, जबकि सूर्य आदि ज्योतिषमंडल को स्थिर मानते हैं। पृथ्वी को गेंद के समान गोल मानने में उनकी कुछ दलीले ये हैं-

(1) सूर्य का जब उदय होता है तब वह क्षितिज से लगा हुआ दिखता है।

(2) समुद्र के किनारे रहने वालों को आते हुए जहाज का पहिले ऊपरी भाग-मस्तूल दिखता है।

(3) सूर्य ग्रहण होता है, चलती हुई पृथ्वी की छाया उस पर पड़ने से।

(4) अमेरिका में जब दिन है तब यहां रात है जब यहां रात है तब वहां दिन है आदि।

इन बातों पर विचार करने के पहिले हम यह सोचें कि क्या विज्ञानवादियों ने पूरी पृथ्वी की खोज लगा ली है? पृथ्वी का छोर कहां तक आता है, जहां के बाद पृथ्वी नहीं है या कि पृथ्वी का जहां अंत आता है, उसके बाद क्या है, क्या हवा ही हवा है, क्या आकाश ही आकाश पृथ्वी को अंत की सीमा बनाता है, अथवा जल आता है? जल आता है यह विज्ञानवादियों की तरफ से कहा जायेगा; लेकिन वह जल कहां तक है और उसके बाद क्या है? सो भी तो बताना चाहिये सो बता नहीं सकते। देखो भैया गोल पृथ्वी है तो नीचे के हिस्से पर कोई चीज टिक नहीं सकती वह तो टपक पड़ेगी। इसके उत्तर में चारुवाक्

वाले यह उत्तर देते हैं कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है सो भैया उन्हें एक झूठ के बनाने में कई झूठे बनाना पड़ती हैं। सीधी-सीधी बात तो यह है कि पुद्गल याने जो ये सब दिख रहे हैं सो शीत उष्ण में से कोई, स्निग्ध रूक्ष में से कोई, गुरुलघु में से कोई, कठोरकोमल में से कोई- ऐसी चार दशा प्रत्येक में हैं सो जो गुरु है वह नीचे पड़ता है। गुरु पदार्थ का अध: पतनस्वभाव है। जैसे बल से एक लोहे के गोले को ऊपर फैंका सो जब तक असर रहा ऊपर गया फिर अध:पतन स्वभाव के कारण नीचे आ गया। सूखे पत्ते साधारण हवा के प्रयोग से ऊपर व अन्यत्र उड़ते रहते हैं। जब थोड़ी हवा नहीं रहती तो नीचे आ पड़ते हैं- इस सीधी बात को न मानकर आकर्षणशक्ति मानना कहां तक युक्तिसंगत होगा सो देख लो पृथ्वी हल्की चीज को आकर्षित नहीं करती, वजनदार को आकर्षित करती है, कैसा न्याय है? हल्की चीज को तो आकर्षित करने में कोई ज्यादा बल की भी जरूरत न थी, उसे तो जल्दी आकर्षित करना था। यदि गेंद की तरह गोल पहिले स्वीकार न किया होता तो ऐसी झूठ ढूंढ़ने की कोई जरूरत न थी।

माने गये उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव से आगे पहुँच नहीं हो सकने से इतने को ही इति कह दिया, जबकि पृथ्वी का पूरा पता नहीं ले पाये, उसका छोर और छोर के बाद क्या चीज है, उसको नहीं पा पाये तब पृथ्वी गोल है कि चपटी, त्रिकोण है कि चौकोर, आदि मत निर्णीत कैसे कर सकते हैं? वादी की कल्पना से अतीत विस्तृत जो भूमंडल है, उसका कुछ थोड़ासा हिस्सा जानने से उसके आकार प्रकार के निर्णय में नियम से भूल होना संभव है। संभव है कि जिस भाग को उसने देखा पाया है, पृथ्वी का वह ऊपर एक गेंद के समान गुलाई लिये हुए ढलुवां हिस्सा हो। कुछ उक्त दलीलों पर भी विचार करें-

(1)पृथ्वी गेंद के समान गोल हो तभी सूर्योदय क्षितिज पर दिख सकता है, यह हेतु तर्कसंगत नहीं है। अनुभव यह कहता है कि दूर की वजह से ऐसा दिखता है। दृष्टान्त में आप 20 हाथ ऊपर कोई चीज रखें उसे उससे नीचे से देखो और 25 हाथ दूर पर खड़े होकर देख लो कितना अन्तर दिखता।

(2) समुद्र में चलते हुए दूरवर्ती जहाज का पहिला निचला हिस्सा नहीं दिखता ऊपरी दिखता है यह भी पृथ्वी की गेंद समान गुलाई का कोई हेतु नहीं है। यह भी दूर से ऐसा दिखता है। और दूसरी बात यह है कि कितने ही मील पर समुद्र की सतह नीची नीची होती जाता है, इससे गुलाई को सिद्ध करते हो तो जल की सतह तो 1 जलाशय में एक सी होती है। कोई समुद्र के नीचे की जमीन यदि एक तरफ का ढालू होने से ऐसा कहा जाता हो तो दूसरे तीसरे समुद्र में यह अनुमान गलत भी हो सकता है और पानी की ऊपरी सतह तो सब जगह समान होती है।

समुद्र में वाफ होती है सो वाफ से ढंकने से भी नीचे का हिस्सा नहीं दिखता, पास में वाफ गाढ़ी नहीं दिखने से जहाज पूरा दिखता, पृथ्वी गेंद समान होने पर, नदियों के प्रवाह की व्यवस्था उचित नहीं बैठती।

और सबसे निचले हिस्से में निवासी होंगे वे नीचे क्यों नहीं टपक पड़ते? पृथ्वी के आकर्षण से चिपटे रहते हैं, तो पृथ्वी का यह आकर्षण, हल्की चीजों में क्यों नहीं जो कि उड़ते रहते हैं। वजनदार चीजों में आकर्षण हो और हल्की में न हो यह अनुभव सिद्ध बात नहीं है।

और सोचो- नदी समुद्र गोल पृथ्वी के किस हिस्से में हैं? क्या सबसे ऊपरी हिस्से में? तो उससे गुलाई का अनुभव कैसे कर सकेंगे? यदि ढलुवे हिस्से में कहो तो वह हो ही नहीं सकता। पानी ढलवा बह जाना चाहिये। समुद्र रूप सतह वाला पानी कैसे बना रह सकेगा? यदि निचले हिस्से में हैं तो यह भी ओंधी बात है, जमीन ऊपर हो और पानी उसके नीचे अधर लटका रहे, यह कैसा विज्ञान होगा।

(3) पृथ्वी के चलने से सूर्य में प्रतिबिंब पड़ता है और ग्रहण होता है- यह कहना ठीक नहीं है। लाखों मील ऊपर सूर्य में पृथ्वी की छाया पड़े यह असंभव नहीं तो सूर्योदय आदि के समय भी वह छाया क्यों नहीं पड़ती। पृथ्वी के नियमित चक्कर लगाने पर भी ग्रहण में अनियमितता क्यों है? ज्योतिष्मान गोल चीज के किसी ओर भी कुछ हो, वह तो सामने ही कहलाती हैं अथवा सूर्यग्रहण में पृथ्वी की ही छाया है, उसी से उसका उतना तिरोभाव है यह कैसे निश्चय कर लिया? क्या दूसरी चीज से ऐसा होना संभव नहीं है?

फिर पृथ्वी चलती है घूमती है तो अपनी इच्छा से या कोई प्रेरक है? इच्छाशक्ति तो उसमें प्रकट नहीं होती है। प्रेरक भी कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता, यदि कहा जाय कि हवा से चलती है तो हवा क्रम से अथवा एक दिशा में ही नहीं चलती जिससे कि पृथ्वी का नियमित घूमना सिद्ध किया जा सके। अच्छा अपने आप चलती है तो उसका आधार क्या है? कील जैसी चीज हो तो उस कील का आधार क्या है? फिर उसका आधार क्या है? यह अनवस्था खतम नहीं होती।

इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड पर कुछ कम एक योजन का अर्थात् दो हजार कोश का मुलम्मा उठ गया है जो कि प्रलयकाल में साफ होगा। यह मुलम्मा उत्तर की ओर झुका हुआ उठा है जिससे कि इतना हिस्सा जमीन पर कुछ गोल सा हो गया है। नीचे वह विस्तृत पृथ्वी है। इस भाग के ऊंचे उठे हुए होने से इसके पूर्व भाग पर जल्दी प्रकाश आता है सूर्य के निषधाचल पर पहुंचते ही तथा भरतक्षेत्र से सूर्य के मुड़ते ही पूर्व भाग पर अँधेरा हो जाता है व पश्चिम भाग पर शीघ्र प्रकाश आ जाता है, इससे प्रलयसमय तक यह व्यवस्था है।

और भी अनेकों अपतर्कों से जिनके गलत धारणाएं बनी हैं, उन्हें अपनी बुद्धि के साथ आगम के वाक्यों का आश्रय लेना चाहिये, केवल काल्पनिक सूझ हमारा भला नहीं करेगी। जिन महाज्ञानियों ने, पूर्णज्ञानियों ने अति सूक्ष्म, अत्यन्त दूरवर्ती और यहां तक कि अमूर्त आत्मा आदि के बारे में मार्मिक और अनुभवसिद्ध तत्त्वज्ञान दिया है उस पर श्रद्धा और मनन तथा प्रयोग न करके, अपने पुरुषार्थ और बुद्धि के झूठे अहंकार में अथक परिश्रम करके समय निकालते रहें तो उससे सारतत्त्व क्या हासिल होने का है? हमें अपने कल्याण के लिये तीनों लोकों की रचना और उसमें जीव अजीव के कार्य आगम से जानना चाहिये। श्रद्धापूर्वक उसको प्रयोग द्वारा उसी तरह सिद्ध करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। ऐसी श्रद्धा, ऐसा प्रयोग ऐसा पुरुषार्थ हमारे भीतर एक नया प्रकाश लायेगा, हमें अपनी चेतनाशील असीमशक्ति का परिचय मिलेगा, मानवता और सत्य देवत्व जागेगा और यहां तक कि परमात्मीयता प्रकट होगी। यह बात कहां तक सत्य कही जा रही है, सो शान्ति के साथ विचारें और जैसा अच्छा लगे वैसा करें।

भैया ! यदि अपने श्रद्धान्, ज्ञान व आचरण को न सँभाला और कुटेव में ही समय बिताया, तब इसके फल ये नरकादि गति हैं। जितना पाप मनुष्य कर लेता है उतना अन्य नहीं कर सकते और जितना उच्च पद में यह पहुंच सकता है उस पद में अन्य तो कोई पहुँच ही नहीं सकता। मोक्ष पद मनुष्य ही पाता है। असंज्ञी जीव जिनके मन नहीं है वे पहिले नर्क से नीचे नहीं उत्पन्न होते। गुहेरे आदि दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सांप चौथे नरक तक, सिंह पांचवें नरक तक, स्त्रियां छठे नरक तक व मत्स्य और मनुष्य 7 वें नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। मत्स्य, मनुष्यों में भी उत्कृष्ट स्थिति में मनुष्य ही हो सकता है। कितने ही नारकी वहां सम्यग्दृष्टि भी होते हैं। पहिले नरक से तो सम्यक्त्व साथ लेकर भी निकल सकते हैं। द्वितीयादि पृथ्वियों में नारकियों के सम्यग्दर्शन तो होता है परन्तु सम्यक्त्व लेकर निकलने वाले अति विरल हैं क्योंकि वहां क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते। सातवें के मिथ्यात्व लेकर ही निकलते हैं। पहिले से तीसरे तक के नरक से निकले हुये जीव मनुष्य होकर तीर्थंकर भी हो सकते है परन्तु बलभद्र नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती नहीं होते। चौथे से निकले हुये मनुष्य होकर मोक्ष भी जाते हैं परन्तु तीर्थंकर और बलभ्रद्रादि नहीं होते। पांचवें से निकले हुये मनुष्य होकर मुनि भी हो सकते हैं। छठे से निकले हुये मनुष्य और देशविरत तक हो सकते हैं। सातवें से निकला हुवा तिर्यञ्च ही होगा व वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकेगा। सम्यक्त्व सबसे बड़ा अमूल्य वैभव है। सम्यक्त्व सहित नारकी भी संवर, निर्जरा व आत्मसुख का पात्र है सम्यक्त्व रहित शक्र चक्री भी हो तो भी बंध व विह्वलता का ही पात्र है।

भैया ! यह संसार सब असार है सारा समागम अत्यन्त भिन्न है, किसी भी अन्य की परिणति से आत्मा का कुछ सुधार नहीं हो सकता। अपनी जुम्मेदारी केवल अपने पर ही है, अपने को संभालो। अन्य पदार्थ में ममत्व न करो, उनमें अहंबुद्धि न करो, शरीर, वचन और मन के विकल्पों में भी अहंबुद्धि न करो। हे आत्मन् ! तू मन वचन काय से परे अमूर्त ज्ञानस्वभावी है। इस आत्मा की प्रत्येक समय में परिणतियां होती रहती हैं क्योंकि यह भी सत् है तो उन समस्त परिणतियों में किसी में भी मत अटको, जिस एक स्वभाव की ये परिणतियां होती हैं उस एक ध्रुव चैतन्यस्वभावरूप उपयोगी होने का अपना प्रयत्न करो। इस दृष्टि से ही अविनाशी कल्याण होगा।

ॐ शान्ति

तत्त्वार्थ चतुर्थ प्रथमसूत्र प्रवचन

(भादो सुदी 8- सन् 1954)

देवाश्चतुर्णिकाया:

दूसरी गतियों के जीवों के समान देवगति के जीवों का पहले आधार न बताकर उसके भेद बताये, इसका कारण है कि देवों का, निवासस्थान बंधा हुआ नहीं है, इसलिये वह क्रम नहीं रखा। इनके निवास की विशेषता बताने के लिये ही सूत्रक्रम ऐसा रखा है। लोक में साधारणत: ऐसा मानते है कि देवों का निवास ऊपर लोक में हैं, लेकिन यह बात नहीं है। 4 प्रकार के देवों में केवल वैमानिक देव ही ऊर्ध्व लोक में रहते हैं। ज्योतिषी मध्यलोक में और भवनवासी तथा व्यंतर अधोलोक के खरभाग में व पंकभाग में रहते हैं। भवन और व्यंतरों के निवासस्थान मध्यलोक में भी द्वीप समुद्रों और पर्वतों पर हैं। व्यंतरदेव अपना आवास स्थान छोड़कर शून्य स्थान में पुराने मन्दिर मकानों में, पीपल आदि के वृक्षों में, चोहट्टे में, कुआँ बावड़ी आदि जलीय स्थानों में भी निवास करते हैं।

ज्योतिषी देव, पृथ्वी से 790 योजन ऊपर से लेकर 900 योजन तक की ऊँचाई में रहते हैं। सबसे नीचे तारे हैं, उससे 10 योजन ऊपर सूर्य है, उससे 80 योजन ऊपर चन्द्रमा है। उससे ऊपर, 20 योजन की मुटाई में, ग्रह नक्षत्रों का निवास है। ज्योतिष्कों का निवास यद्यपि पृथ्वी से बहुत ऊपर है फिर भी मध्यलोक में ही उनका निवास माना जाता है। क्योंकि सुमेरु की जड़ से ऊँचाई तक के बराबर, मध्यलोक की मुटाई मानी है। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषियों में, मिथ्यादृष्टि जीव ही पैदा होते हैं। पहिले स्वर्ग से लेकर नवमें ग्रैवेयक तक-मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि दोनों पैदा होते हैं और इसके ऊपर नव अनुदिश और 5 अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि जीव ही पैदा होते हैं। जिन विमानों में देव रहते हैं, वे सैकड़ों, हजारों तथा लाखों मील तक के लम्बे चौड़े और अत्यन्त सुन्दर, यथायोग्य पंचेन्द्रियों की सुखसामग्री से सम्पन्न होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी ये तीन प्रकार के देव विशेष पुण्य वाले नहीं हैं। इन देवों में उत्पत्ति भी विशेष विशुद्ध भाव से नहीं होती है प्रत्युत कुछ बालपत के साथ कर्तृत्व के भावों से इनमें उत्पत्ति होती है। अथवा निदान व अन्य साधारण विशुद्धभावों से इनमें उत्पत्ति होती है। भवनवासियों के 10 भेद हैं, उनमें से असुर जाति के देव तो पहिली पृथ्वी के पंकभाग में रहते हैं और शेष के नाग, विद्युत् सुवर्ण, अग्नि, वात, स्तनिक, उदधि, द्वीप, दिक् जाति के देव खरभाग में रहते हैं। इन सब नामों के अंत में कुमार लगाना चाहिये, इनका कुतूहल कुमार की तरह वेश आचरण में रहता है। इन देवों का भी वैभव बहुत बड़ा है जिससे लोक पुण्य का अनुमान करते हैं- जैसे असुरकुमार के चमरेन्द्र के 34 लाख भवन हैं जिनका प्रमाण अनगिनते करोड़ों योजनों का है इनके सामाजिक त्रायस्त्रिंश (मंत्रिमण्डल) पारिषद (मेम्बर) आत्मरक्षक (बोडी गार्ड) लोकपाल (कोतवाल) प्रकीर्णक (प्रजा) अनीक (सेना) आभियोग्य (वाहक)

किल्विषक (गायक नर्तक सफाई वाले आदि) अनेक चित्तरंजक होते हैं। इनके भी पूर्व पूर्व के अनेक भेदों में बड़ा बड़ा वैभव है। व्यन्तरों के भी कुछ ही कमी के साथ भवनवासियों की तरह वैभव होते हैं। इनमें राक्षस नामक व्यंतर तो पंकभाग में रहते और शेष के किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, भूत, पिशाच ये सात खरभाग में रहते हैं। भवनवासी व व्यंतरों में अनेक सम्यग्दृष्टि भी हो जाते हैं वे समय समय पर धर्मात्मावों की सेवा भी करते हैं। व्यंतरों व असुरकुमार को छोड़कर शेष भवनवासियों के रहने के क्षेत्र तीन प्रकार से हैं- कई एक के तो केवल भवन ही हैं जो खरभाग पंकभाग में हैं। कई एक के भवन व भवनपुर दोनों हैं। भवनपुर पर्वतादि क्षेत्रों में हैं। कई एकों के भवन व भवनपुर तथा आवास तीनों ही रहने की जगह हैं। आवास समभूमि, फूटे मकान, वृक्ष, तालाब व कुछ ऊपर आकाश में होते हैं। ज्योतिषी देवों के निवास इस पृथ्वी से 790 योजन ऊपर हैं। इन तीनों प्रकार के देवों से वैमानिक उत्कृष्ट होते हैं।

वैमानिक देवों के विमान 63 पटलों में बने हुए हैं। एक पटल से दूसरे पटल के बीच में हजारों योजनों का अन्तर रहता है। एक पटल से दूसरा पटल ऊपर ऊपर बना हुआ है। प्रत्येक पटल में बीच में इन्द्रक विमान है, और दिशाओं में श्रेणीबद्ध विमान हैं। अन्तिम ऊपरी एक पटल को छोड़कर शेष सब पटलों में विदिशाओं में विमान हैं। ऊपरी कुछ पटलों को छोड़कर शेष पटलों में दिशा विदिशा के बीच प्रकीर्णक विमान भी हैं। सबसे पहिला जो पटल है वह मेरुपर्वत की चोटी से एक बाल के अन्तर पर शुरू हुआ है। उसके इन्द्रक विमान का नाम ऋतु या ऋजु है। इस पटल में श्रेणीबद्ध विमान प्रत्येक दिशा में 62, 62 हैं। दूसरे पटल में श्रेणीबद्ध विमान 61, 61 हैं। इसी तरह आगे आगे के पटल में एक एक विमान की संख्या कम होते होते 62 वें पटल में श्रेणीबद्ध विमान 1,1 है और 63 वें पटल में भी श्रेणीबद्ध विमान 1, 1 है। 62 वें पटल में विदिशावों में भी 1,1 विमान है। इससे पहिले विदिशा में 1-1 ज्यादह और है। 53 से 61 वें पटल तक सर्वत्र प्रकीर्णक विमान नहीं हैं। इस तरह 63 पटलों में वैमानिक देवों का निवास है। इन सब पटलों में से पहिले के 52 पटलों में रहने वाले देव कल्पोपन्न कहलाते हैं। ऊपर के 11 पटलों में कल्पातीत देव रहते हैं। कल्पोपन्न देवों के 52 पटलों का वर्गीकरण इस प्रकार है- 31 वें पटल के श्रेणीबद्ध दक्षिण दिशा के 18 वें विमान में सौधर्म इन्द्र रहता है और 31 पटल के उत्तर दिशा के 18 वें पटल में ईशान इन्द्र रहता है। उसके आगे 38 वें नं. के पटल के 15 वें (दक्षिणदिशा के) विमान में सानत्कुमार देव और उसी पटल के श्रेणीबद्ध 15 वें नं. (उत्तरदिशा के) विमान में माहेन्द्रदेव रहता है। इसके ऊपर 42 वें नं. के पटल में दक्षिणदिशा के 12 वें विमान में ब्रह्मेन्द्र रहता है, और उत्ता दिशा के 12 वें विमान में ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहता है। इसके ऊपर 44 वें नं. के पटल के 9 वें (दक्षिण दिशा के) विमान में लांतव इन्द्र रहता है और उत्तर दिशा में कापिष्ट इन्द्र रहता है। इसके ऊपर 45 वें नं. के पटल के 12 वें विमान में शुक्र-इन्द्र और उत्तर दिशा में महाशुक्र इन्द्र रहता है। इसके ऊपर 46 वें नं. के पटल के 9 वें विमान में शतार इन्द्र रहता है और उत्तर दिशा में सहस्रार रहता है। इसके ऊपर 52 वें नं. के पटल के 6 वें विमान में आरणइन्द्र और उत्तर दिशा में अच्युत इन्द्र रहता है। जो नीचे के इन्द्र के अधिकार से ऊपर जितने पटलों के ऊपर रहता है वह उतने पटलों का अधिकारी होता

है। उक्त 14 इन्द्रों की गणना लोकानुयोग ग्रन्थ के आधार पर है। अन्यत्र 52वें पटल के दूसरे विमान में आनत प्राणत इन्द्र रहते हैं क्रम से दक्षिण और उत्तर दिशाओं में। ऐसे 16 इन्द्र बताये हैं। कहीं कहीं 16 स्वर्गों में 12 ही इन्द्र होते हैं, ऐसा भी बताया है। कल्पातीत देवों में 9 ग्रैवेयकों के क्रमश: ऊपर ऊपर 9 पटल हैं। 53 वें पटल से लेकर 61 वें पटल तक इन 9 पटलों को ग्रैवेयक कहते हैं। ग्रीवा नाम कण्ठ का है। लोक की रचना पैर फैलाये हुए व कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के आकार है। नवग्रैवेयक की रचना चित्र में कण्ठ के समीप पड़ती है, इसलिये भी इनका नाम ग्रैवेयक है अथवा वैकण्ठ (वैकुण्ठ) है। अजैनसमाज में किन्हीं किन्हीं के यहां प्रसिद्धि है कि प्रभु के उत्तम भक्त जिन्हें अन्य परिग्रह आरंभ की इच्छा नहीं, केवल ईश्वरभक्ति ही प्रिय है वे वैकुण्ठ में पहुँचते हैं और असंख्यात वर्षों तक रहकर पुन: संसार में आते हैं। इसका तात्पर्य उत्कृष्ट रीति से संभव हो सकता है तो इस नवग्रैवेयक से प्रयोजन जाना जा सकता है। नवग्रैवेयकों में निष्परिग्रही निरारंभ व्रतसमिति की क्रियावों में पूर्ण सावधान पञ्च परमेष्ठी की निश्छल भक्ति करने वाले जगत के प्रति समता रखने वाले निर्ग्रन्थ साधु पहुँचते हैं। ऐसे ही किन्तु मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु तो इन नवग्रैवेयकों तक ही पहुंच पाते हैं। इससे ऊपर मिथ्यादृष्टि की गति नहीं। इससे ऊपर नव अनुदिश व 5 अनुत्तर विमान हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि साधु ही जन्म ले सकते हैं। 9 ग्रैवेयकों के 9 पटल हैं। पहले पटल के मध्य में 1 इन्द्रक व चारों दिशावों के 10-10 विमान, इस प्रकार 41 विमान हैं। दूसरे में 9×4=36 व 1 इन्द्रक ऐसे 37 विमान हैं। तीसरे में 8×4=32 व 1 ऐसे 33 विमान हैं। चौथे में 7×4=28 व 1 = 29 विमान हैं। पांचवें में 6×4=24 व 1=25 विमान हैं। छठे में 5×4=20 व 1=21, चौथे पांचवें छठवें पटल को मध्यम गैवेयक कहते हैं यहां, 32 प्रकीर्णक विमान और हैं। सातवें में 4×4=16 व 1=17, आठवें में 3×4=12 व 1=13, व नवमें में 2×4=8 व 1=9 विमान हैं। इन्हें ऊर्ध्वग्रैवेयक कहते हैं, यहां भी 52 प्रकीर्णक विमान और हैं। ये सब 9 पटल ग्रैवेयक कहलाते हैं। इससे आगे 1 नव अनुदिशों का और 1 पंचोत्तर विमानों का ऐसे 2 पटल हैं। अनुदिश पटल में 4 दिशा में, 4 विदिशा में व 1 बीच में ऐसे 9 विमान हैं। अनुत्तर में 5 ही विमान हैं।

देवों में कई एकांकी अपनी अपनी विशेषतायें हैं। सौधर्म इन्द्र की विशेषता प्रतापशीलता में है। मध्यलोक में जब कभी तीर्थंकर का जन्म होता है उस समय देवों को अवधिज्ञान के द्वारा यह खबर पड़ने पर पहिले प्राय: सब देव सौधर्म की सभा में उपस्थित होते हैं और पीछे सब मध्यलोक में, जन्म कल्याणक मनाने को आते हैं। लौकांतिक देवों में वैराग्यप्रियता की विशेषता है और सर्वार्थसिद्धि के देव धर्मचर्चा की प्रधानता की विशेषता वाले हैं। पूर्वभव में जो पूर्णब्रह्मचारी अति विरक्त श्रावक या साधु तपस्वी होते हैं, वे ही लौकांतिक देवों में पैदा हो सकते हैं।

लौकान्तिक देव द्वादशांग के पाठी कामबाधा से रहित वैराग्य प्रेमी होते हैं। ये अपने ध्यान को छोड़कर अन्यत्र कहीं विहार करने की रुचि नहीं रखते केवल तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याण के समय उनके वैराग्य की अनुमोदना करने जाते हैं। इनका नाम देवर्षि है। अधिक समागम से उन्हें प्रयोजन नहीं है अत: प्रकृत्या इनका आवास ब्रह्मलोक के अन्त में दिशा व विदिशा में है सो इस ब्रह्मनामक लोक के अंत में निवास

करने से इन्हें लौकान्तिक कहते हैं तथा ये एक भव मनुष्य का पाकर मुनि होकर निर्वाण प्राप्त करेंगे। इनके और तीसरा आदि कोई भव नहीं होगा इसलिये इन्हें लौकान्तिक कहते हैं। इन्होंने लोक कहिये संसारभ्रमण का अंत कर दिया है।

लौकान्तिक देवों का आवास 5 वें ब्रह्मस्वर्ग के बाहर आठों दिशा विदिशाओं में और उनके बीच में 2,2 ऐसे 24 तरह के विमानों में है।

अरुण नाम के 9 वें समुद्र से ऊपर को चारों ओर से संख्यात हजार योजन का मोटा एक अंधकार का समूह चलता है और ऊपर ऊपर क्रम से उसका विस्तार बढ़ता जाता है। यह तमोवलय अरिष्टनामक 37 वें इन्द्रक विमान- जो कि 37 वें स्वर्गपटल का बीच का विमान है, उसके सर्व अंतों की ओर पास तक एक प्रवाह से चलता है; अरिष्टइन्द्रक के पास से चारों दिशावों में 2-2 श्रेणी के रूप में हो जाता है, बीच में अंतर रहता है। इन 8 अंतरों में सारस्वत आदि 8 प्रकार के लौकान्तिक रहते हैं और उनके बीच के अंतरों में अग्न्याभ सूर्याभ आदि 2-2 प्रकार के होकर 16 प्रकार के और लौकांतिक रहते हैं। ये सब पवित्र आत्मा हैं। निरंतर ज्ञानभावना में रत रहने का यत्न रखते हैं, मंदकषाय हैं। भैया यह चर्चा सुनकर इस भव की भी रुचि नहीं रखना, भव की रुचि छोड़कर भवरहित निजस्वभाव की आराधना करो।

आदि के 3 निकायों भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषियों में कृष्ण, नील, कापोत और पीत लेश्याएं होती हैं। लेकिन पर्याप्त में पीतलेश्या ही होती है। चौथे स्वर्ग तक पीतलेश्या, आगे 12 वें तक पद्मलेश्या और आगे सब देवों में शुल्कलेश्या होती है।

कषाय के उदय से अनुरिञ्जत योगों की प्रवृति को लेश्या कहते हैं। अभी एक भाई ने प्रश्न किया कि कषाय और योग से भिन्न लेश्या है नहीं, फिर उसका अलग निर्देश क्यों किया तो समाधान यह है कि कषाय और योग का काल 1 समय भी होता है, किन्तु लेश्या का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त ही है। कषाय और योगों में गुणस्थानपरिवर्तन व्याघात मरण आदि की अपेक्षा से एक समय का स्थान माना जाता है। 1 गुणस्थान से दूसरे में जाने के लिये पहिले समय जो कषाय होती है, आगे का गुणस्थान बदलने पर दूसरे समय में भिन्नता हो जाती है। व्याघात होने पर जीव को क्रोध आया, उस समय भी कषायपरिवर्तन में एक समय लगता है। इसी तरह अपेक्षायें समझना चाहिये।

देवों में जो लेश्याओं का सद्भाव है, वह मरण समय से पूर्व के समय की लेश्या से अधिक सम्बन्ध रखता है। शुल्कलेश्या वाले देवों में पूर्वभव में भी शुल्कलेश्या के भाव बहुलता से किये होते हैं तभी वह उन विमानों में पैदा होता है। नवों ग्रैवेयकों में तपस्वी मुनि ही जाते हैं लेकिन वहां मिथ्यादृष्टि मुनि भी पैदा हो सकते हैं। किन्तु अनुदिशों में और अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टि महान् तपस्वी मुनि ही उत्पन्न होते हैं।

अनुत्तर पटल में 5 विमान हैं- 1 बीच में, 4 चारों ओर। बीच के विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है और पूर्वादि क्रम से चारों के नाम विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित हैं। सर्वार्थसिद्धि में जन्म लेने वाले देव 1 भव मनुष्य का पाकर मुनि होकर मोक्ष चले जाते हैं नियम से, और विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित इन चार में जन्म लेने वाले अधिक से अधिक दो भव मनुष्य के पाकर दूसरे मनुष्य भव से

मुनि होकर मोक्ष चले जाते हैं। इन दो के बीच विजयादि का पुन: भव मिलता है। अथवा जहां विजयादि में उत्पन्न होने का साधिक दो सागर अंतर हो वहां विजयादि से मनुष्य फिर प्रथमकल्प में देव, फिर मनुष्य फिर विजयादि में देव, फिर मनुष्य होकर मोक्ष चले जाते हैं। विजय से आकर व विजय में जाने के लिये मनुष्यसंयमी ही होता है। इन जन्मों के लेने पर एक दो भव ही शेष रहते हैं, ऐसा विचार कर भव की रुचि मत करना। क्योंकि भव की रुचि न करके निजचैतन्यस्वभाव की आराधना व आत्मसंयम में अद्वैतलीनता करने वाले आत्मा उसी भव से या तीसरे भव से मोक्ष जाते हैं आदि; और बीच में लौकान्तिक, दक्षिणेन्द्र, लोकपाल, सौधर्मशची, सर्वार्थसिद्धि के भव मिलते हैं- यह कथन है। भव की रुचि से न ये मिलेंगे और न धर्म होगा। इन भवों में ये सम्यग्दृष्टि अपने को भला नहीं समझते हैं, वे तो निश्चय संयम की वाञ्छा करते हैं। इस अपूर्वसंयम की मूर्ति निश्चय से आत्मा में व व्यवहार से मनुष्य भव में ही होती है। सर्वार्थसिद्धि के देव द्वादशांगपाठी होते हैं और ज्ञानचर्चा में ही इनका 33 सागर का बड़ा लम्बा समय व्यतीत हो जाता है। देखो भैया सौधर्म लौकान्तिक देव सर्वार्थसिद्धि के देव द्वादशांग के ज्ञाता होकर भी श्रुतकेवली नहीं कहलाते हैं। श्रुतकेवली मुनि ही हो सकते हैं।

नरकों में जीव जैसे पाप की बहुलता से पैदा होते हैं, वैसे देवपर्याय पुण्य की बहुलता से मिलती है। इनमें भी भवनत्रिक पर्याय से वैमानिकदेव पर्याय पाने के लिये विशेष पुण्य आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि- तिर्यञ्च अधिक से अधिक 12 वें स्वर्ग तक पैदा हो सकते हैं। इससे ऊपर के स्वर्गों में वा कल्पातीत विमानों में मनुष्यों की ही पहुंच है। जो प्राणी अपने परिणाम सरल और शुभ रखता है, पात्रों को भक्ति सेवा दीन दुखियों को दया से दान देता है, देवशास्त्रगुरु की पूजाभक्ति में तत्पर रहता है, पंच इन्द्रियों के विषयों को रोककर मन को वश में करता है, जीवों की दया पालता है, दु:खों को समता से सहता है, बारह प्रकार के तपों को तपता है, परोपकार, और परदु:खहरण में रुचि रखता है, बाह्य पदार्थों से मूर्च्छा और ममता त्यागकर आत्म वैभव में जो उपयोग लगाता है, जो उत्तमक्षमा उत्तम मादर्व आदि 10 धर्मों का पालन करता है, दर्शनविशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं को भाता है, संसार से रुचि हटाकर जो मोक्ष मार्ग में अपना उपयोग लगाता है वह ऐसी ही उदार वृत्तियों से देवपद पाता है। लेकिन इन देवों में भी मनुष्यों के समान पुण्य सबका ऐसा नहीं है। अनीक आभियोग्य और किल्विषक देव, छोटी जाति के देव हैं, फिर भी कल्पवृक्षों की सुविधा और विक्रियाशक्ति का साधन सबको सुलभ है। उनके शरीर में, मलमूत्र और रोगादि की बाधा नहीं होती। बचपन और बुढ़ापे का भी दु:ख उनको नहीं होता, वे हमेशा युवा रहते हैं तथा और भी इन्द्रियों के भोगापभोग योग्य सामग्री उनको प्रस्तुत रहती है। इनके अतिरिक्त उनके भवनों में विमानों में अकृत्रिम चैत्यालय होता है, जिसमें जिन पूजन वन्दन का लाभ उन्हें मिलता है। सम्यग्दृष्टि देवों के ज्ञानचर्चा की भी बड़ी रुचि रहती है। जिस समय श्रीरामचन्द्रजी महाराज मृत लक्ष्मण के शोक में अति विह्वल हो रहे थे तब सौधर्म इन्द्र ने शास्त्रसभा में संसार की अवस्था का वर्णन होते हुए में यह कहा था कि ऐसी चर्चा देव अवस्था में करते हो परन्तु पश्चात् भूल जावोगे। देखो, श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब स्वर्ग में थे खूब तत्त्वकथनी करते थे अब इस समय मनुष्य पर्याय में हैं उनकी क्या हालत हो रही है- 1

असमानजातीयद्रव्यपर्याय के मोह में ऐसे विह्वल हैं, करीब 6 माह होने को हो गये मृत शरीर को लिये हुए फिर रहे हैं। इस चर्चा को सुनकर जटायु का जीव व कृतान्तवक्र का जीव जो देव थे वे श्रीरामचन्द्रजी महाराज को संबोधने आये थे। जब किसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने संबोध पाया तब असीम वैराग्य जागा, पश्चात् थोड़े ही समय में सर्वपरिग्रह की पोट उतारकर निर्ग्रन्थ तपस्वी बने। उस समय श्री रामचन्द्रजी महाराज ने अद्भुत समाधि ली जिससे सर्व उपसर्गों के प्रभाव से दूर रहे और अन्त में निर्वाण पधारे। उन्होंने देवगति का भी तिरस्कार कर दिया। सम्यग्दृष्टि देव अपनी देव अवस्था में राजी नहीं हैं उन्हें वह असंयम की अवस्था भली नहीं मालूम होती। मिथ्यादृष्टि देव तो झूरझूर कर मानसिक क्लेश में अपना लम्बा समय गमा देते हैं। अहो देखो तो भैया ! संसार की किसी अवस्था में भी सुख नहीं है। सुख तो आत्मश्रद्धा आत्मज्ञान आत्मचारित्र की उत्कृष्टता में है। वैसे तो इन देवों में अन्य बहुत सी विशेषतायें हैं किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में सब हेय हैं। देवता मनमाना तीर्थविहार करते हैं तथा भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में होने वाले तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण मानने का भी उनको सुअवसर मिलता है। जो भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ लेना चाहते हैं वह भी जब कभी भी ले सकते हैं। कृत्रिम व अकृत्रिम, चैत्य चैत्यालयों की वन्दना, ऋद्धि धारी मुनियों की वन्दना आदि का लाभ लेने की सुविधा उनको हमेशा रहती है। जो निर्मल परिणामी होते हैं वे इन सुअवसरों का लाभ लेते रहते हैं, अपनी सभा गोष्ठी में भी धर्मचर्चा करते रहते हैं। ऐसे देव आगे मोक्ष मार्ग में तरक्की करने की योग्यता भी बढ़ाते रहते हैं। लेकिन दूसरी ओर ऐसे विषयलोलुपी देव भी हैं, अनेकों तो पुण्य द्वारा प्राप्त वैभव का भोग कर देवत्व को खतम कर देते हैं और फिर वही संसार परिभ्रमण, दुर्गति के दु:ख हाथ रह जाते हैं। सम्यग्दृष्टि देव, देव के महान् वैभव की तुच्छ समझते हैं और धर्म को ही बड़ा मान उसी में रुचि रखते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों ने पूर्वभव में भी स्वर्ग सुख की कामना नहीं की थी, लेकिन मोक्ष पाने का पूरा पुरुषार्थ नहीं कर पाये इसलिये स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो जाती है। जो यहां सुखों को त्यागकर संयम में बढ़ते हैं उन्हें स्वर्ग में सुदीर्घ काल तक के महान् लौकिक सुख मिलते हैं। यदि कोई उसे ही चाहे तो पाप से बच पुण्य में लगे, लेकिन जो पूर्ण सुख चाहें वे तो शुद्धोपयोग में ही लगें। शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही आत्मा सत्य सुखी होता है। आत्मा के अभेदस्वभाव में रत रहना सर्वकल्याण है, इस वृत्ति के रहते हुए अबुद्धिपूर्वक राग के वश देवगति प्राप्त हो तो होओ, परन्तु अपने को तो सदा ज्ञानमय भाते रहना चाहिये।

तत्त्वार्थ पंचम प्रथमसूत्र प्रवचन

(भादो सुदी 9- सन् 1954)

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला:।।5।1।।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य में ये 4 द्रव्य अजीव भी हैं और कायवान् भी हैं। कालद्रव्य अजीव है किन्तु कायवान् नहीं है, जीवद्रव्य कायवान् है किन्तु अजीव नहीं है। जो द्रव्य जीव और पुद्गलों को चलने में सहकारी हो, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं, जो द्रव्य जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहकारी हो उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। इससे यह मतलब न लेना कि धर्मद्रव्य जब जिस जीव को या पुद्गल को प्रेरणा करता है तब वे चलते हैं, किन्तु जब वे चलते हैं क्रिया (प्रदेशान्तरगमनरूप) होती है तब उसमें धर्मद्रव्य उदासीन रूप से निमित्त अवश्य होता है। इसी तरह जीव और पुद्गलों को चलते चलते रुक जाने में अधर्मद्रव्य उदासीन रूप से सहकारी होता है। आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो स्वयं अपने लिये या दूसरे द्रव्यों को ठहरने को स्थान दे। जो रूप, रस, गंध और स्पर्श सहित हो उसे पुद्गल कहते हैं। सूत्र में धर्मद्रव्य पहिले इसलिये कहा कि वह अनेक अर्थ वाला सुन्दर शब्द है। अधर्म उससे उल्टा है इसलिये उसके लगते ही अधर्म द्रव्य कहा अथवा आकाश के 2 भाग हैं- लोकाकाश, अलोकाकाश। यह विभाग बाहर धर्म व अधर्म के असद्भाव से है सो आकाश से पहिले अधर्म को कहा। इनका निवास आकाश में होने से अथवा अमूर्तपने की सदृशता होने से और पुद्गल का आधार बताने का प्रयोजन होने से आकाश कहा और बाद में पुद्गल कहा। 'अजीवस्य काय: अजीवकाय:' ये द्रव्य अजीव के काय हैं ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा अर्थ करने से, अजीव और काय भिन्न भिन्न मालूम पड़ते हैं और यदि अभिन्नता अर्थ में ऐसा समास करके अर्थ करना अभीष्ट हो तो वह भी ठीक है, क्योंकि आधार आधेय, स्व स्वामी सम्बन्धादि, अभिन्नता में भी होते हैं। सूत्र में जो बहुवचन पद दिया है वह इसलिये कि सब द्रव्यें स्वतंत्र हैं। ऐसा नहीं है कि धर्म द्रव्य का परिणमन, जीव और पुद्गलों के आश्रित हो या और किसी द्रव्य का परिणमन किसी और द्रव्य के आश्रित हो।

ये द्रव्य कोई किसी के आश्रित नहीं हैं। द्रव्य सब 6 हैं परन्तु यहां अजीवकाय का प्रकरणसूत्र होने से 4 बताये हैं। बहुत ही जल्दी इसी अध्याय में जीवद्रव्य भी कहने वाले हैं और कालद्रव्य भी कहा जायगा। यह अध्याय मुख्यतया अजीव द्रव्यों का वर्णन करेगा क्योंकि जीव द्रव्य का वर्णन इससे पीछे ही लगातार 4 अध्यायों में विस्तृत कर दिया, फिर भी पहिले के 4 ही क्या यह 5 वां भी और आगे के 5 और इन सबका भी वर्णन इस अध्याय में आ जाता है। ये सभी शास्त्र जीव के प्रयोजन के लिये हैं, हेय उपादेय ज्ञेयपना समझाने के लिये हैं। वस्तुत: द्रव्य उतने हैं जितने कि अखंड सत् हैं और ये सब इस प्रकार हैं- अनन्तानन्त जीव और उनसे भी अनन्तानन्तगुणे पुद्गल (परमाणु) धर्मद्रव्य 1, अधर्मद्रव्य 1,

आकाशद्रव्य 1, व कालद्रव्य असंख्यात। ये सब प्रत्येक अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से हैं, इसी चतुष्टय के द्वारा हैं, इसी चतुष्टयमय हैं। जीव पुद्गलादि आकाश में हैं- यह कथन अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, क्योंकि निश्चयकरि प्रत्येक वस्तु अपने सत् में ही रहती है। अनादि से यही व्यवस्था है कि सब द्रव्य हैं और इतने क्षेत्र में हैं और वस्तुत: अपने क्षेत्र में हैं, कोई भी वस्तु किसी का आधार नहीं, किसी का आधेय नहीं। आकाश अपने चतुष्टय में है, जीवादिक अपने चतुष्टय में हैं। द्रव्य को देखो, द्रव्य के चतुष्टय को देखो। किसी द्रव्य का किसी द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। हां, काल को छोड़कर शेष धर्म, अधर्म, आकाश व शुद्ध जीव और जघन्यगुणी परमाणु के परिणमन में मात्र काल निमित्त है तथा अशुद्ध जीव व अजघन्यगुणी परमाणु के व स्कंध के परिणमन में काल व अन्य परिणत द्रव्य भी निमित्त हैं, फिर भी निमित्तभूत द्रव्य उपादान से अत्यन्त पृथक् हैं।

जीव अज्ञानता से यह मान लेता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का परिणमन कराता है। एक द्रव्य के परिणमन में दूसरा मात्र निमित्त अवश्य होता है। जैसे वचन की क्रिया में पुद्गल का ही परिणमन है। हमारे जिन विचारों, निमित्त से यह भाषा बनी यह विचार जो कि ज्ञानरूप है, आत्मा का परिणमन है। प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी पर्यायें अपनी शक्ति से स्वयं करते हैं। देने लेने आदि का व्यवहार केवल लोकव्यवहार है। जैसे किसी ने किसी को 1000) रु. दिये तो क्या वे रुपये आत्मा ने दिये? नहीं- उसके अधिकृत सारे द्रव्य में जो मूर्छा थी उसमें 1000) रु. की मूर्छा में स्वयं में त्याग किया। वह पुद्गल जिसको धनादि के नाम से कहा जाता है, न आत्मा का पहिले था, न पीछे है। आत्मा बाह्य पदार्थ का क्या लेन देन कर सकता, वे तो सब अपनी शक्ति से स्वयं पर्यायान्तर होते रहते हैं। उसे पर्यायान्तर या क्षेत्रान्तर होने में हम अज्ञानता से उसका कर्ता हम अपने को मान लेते हैं, लेकिन ऐसा त्रिकाल में भी नहीं होता, सब द्रव्य सर्वथा स्वतंत्र हैं।

बच्चे को आप खिलाते हैं, तो आपका जो उसके प्रति मूर्च्छाभाव है, रति कषाय है, उसको ही पुष्ट करते हैं। आप अपने भावों का परिणमन अपने में ही करते हैं, बच्चे का परिणमन बच्चा कर रहा है, पुत्र की उत्पत्ति का कोई यत्न नहीं करता, वहां तो आपकी कामेच्छा की पूर्ति निमित्त है, विभाव भावों को न संभाल सकने से ऐसा होता है। मतलब यह कि क्या जीव और क्या अजीव, क्या धर्मद्रव्य और क्या अधर्मद्रव्य, सबका परिणमन अपना स्वतंत्र परिणमन है। दूसरे द्रव्यों के निमित्त का यहां खंडन नहीं है किन्तु यहां वस्तुत्व की बात कही जा रही है। हमने कागज फाड़ा तो यह पिंडरूप पर्याय क्या हमारे हाथ से नष्ट हुई? नहीं, कागजरूप स्कंधों के वियोग से उसका खंडरूप पर्यायें प्रकट हुई। हमारा हाथ निमित्त मात्र है। हमारे हाथ की परिणति हाथ में है कागज में नहीं और कागज की परिणति कागज में है हाथ में नहीं।

देखो भैया ! जो ये सब कुछ दिखता है इनमें भी कोई किसी का परिणमन नहीं करता और तो बात जाने दो, एक ही स्कंध में 1 परमाणु दूसरे परमाणु का परिणमन नहीं करता, सब अपने अपने में परिणमन करते हैं। यह जो आपको प्रकाश दिख रहा है, अच्छा बतावो यह किसका प्रकाश है? यह जो चौकी पर

प्रकाश है, इसे ही बतावो किसका प्रकाश है? क्या यह सूर्य का प्रकाश है? बहुत से लोग तो यही कहेंगे कि सूर्य का नहीं तो फिर किसका है? सूर्य का ही तो है, किन्तु जरा विवेक करें तो ठीक समझ में आ जायगा कि यह सूर्य का प्रकाश नहीं किन्तु जिस पर प्रकाश है उसका है, चौकी का है। देखो जिस पदार्थ का जो गुण होगा, परिणमन होगा, क्रिया होगी, हलन चलन होगा, जो भी होगा वह सब उसही पदार्थ के क्षेत्र में ही होगा, किसी पदार्थ की चीज उस पदार्थ के प्रदेश से बाहर नहीं रह सकती। प्रदेश बिना निराधार कुछ भी नहीं रह सकता। जैसे हाथ का रूप हाथ का रस हाथ का हलन चलन हाथ को छोड़कर बाहर कहां रहेगा? सूर्य का जो कुछ है वह सूर्य में रहेगा। सूर्य का जितना प्रकाश है वह सूर्य में ही है। फिर आप कहोगे कि पहिले सूर्य का उदय न था तब तो प्रकाश न था अब सूर्य का उदय होने पर प्रकाश है। यदि सूर्य का यह प्रकाश नहीं है तो पहिले भी रहना चाहिये था। इसका समाधान यह है कि यह निमित्तनैमित्तिक भाव है अर्थात् सूर्य का निमित्त पाकर यह चौकी अपने अंधकार अवस्था से रहकर अपने प्रकाश अवस्था में आई। इस पर जब अंधकार था तब भी इस चौकी का था, अब प्रकाश है तो यह भी इस चौकी का है। यदि ऐसा न हो तो फिर बतावो कांच पर प्रकाश अधिक क्यों? यह कांच आदि वस्तुवों की अपनी अपनी योग्यता है, सूर्यादि निमित्त तो सबके लिये एक सा है। किरणें भी स्कंधों की पंक्तियां हैं। सूर्य जो करता है सो अपने में और आप भी जो करते सो अपने में।

आपने पूजा करने के लिये दूसरे से कहा तो आपका केवल कारित, अनुमोदना का उतना फल मिल जायेगा जितने कि उसके प्रति आपके भाव हैं। पूजा करने वाले के भावों का फल उसे मिलेगा उसे आप नहीं ले सकते। लोग गृह शांति के लिये पूजा किया करते व करवाते हैं तो यह क्या ठीक है? नहीं, सम्यग्दृष्टि को ग्रह का भय नहीं होता। वह जानता है कि जो होना होता है वह होता है। जैसा जिस द्रव्य का परिणमन होना है भगवान् ने वैसा ही देखा है, उससे कम ज्यादा कुछ नहीं हो सकता। हम किसी अनिष्ट से डर कर उसकी प्रतिक्रिया करके उसको बदल दें यह हमारे वश की बात नहीं है। पदार्थों के परिणमन का रद्दोबदल कर दें यह हमारे वश की बात नहीं है। भगवान् को हम पूजते हैं तो क्या उनका बड़प्पन हमारे पूजने से है? नहीं, उनकी महत्ता उनके अपने परिणमन से है, हमारे उन भावों का परिणमन हमारे से है, सब अपनी अपनी चेष्टा में हैं। प्रश्न- यदि जो होता है सो होता है तो जीव घात होना था सो हो गया उसकी उतनी ही आयु होगी सो मर गया, मारने वाले को पाप नहीं लगना चाहिये?

अवश्यमेव उसे पाप नहीं लगेगा यदि उसके भाव प्रमादरूप व हिंसा के नहीं होंगे तो। यही कारण है कि ईर्यासमिति से चलने वाले मुनि के पैर द्वारा जीवघात भी हो जाय तो उन्हें उस चेष्टा से पापबंध नहीं होता। हां यदि हमारी असावधानी से जीवघात हुआ है या हमारे कुटिल परिणामों के निमित्त से उसका घात हुआ है तो उन भावों का फल तो हमको मिलेगा ही, चाहे वह प्राणी मरा हो अथवा नहीं मरा हो, किसी भी दशा में हो, हमारे भावों के अनुसार तो कर्म बंध होगा ही होगा। अबंधयोग्य भाव होंगे तो बंध नहीं भी होगा। किसी भी वस्तु का किसी अन्य वस्तु पर असर नहीं होता है अर्थात् किसी का असर किसी अन्य पदार्थ में नहीं पहुँचता। देखो भैया ! यह चौकी पर छाया है यह क्या हाथ का असर है? नहीं, यह

हाथ के निमित्त से छाया तो है परन्तु छाया हाथ की नहीं है और न यह छाया हाथ का असर है। क्योंकि असर जिसका होता है उसी में रहता है। असर क्या द्रव्य है अथवा गुण है अथवा पर्याय है? अच्छा इस छायारूप असर को देखकर बतावो असर द्रव्य तो है नहीं क्योंकि यह खंड है और अनित्य है, द्रव्य अखंड नित्य होता है। यह असर गुण भी नहीं है क्योंकि गुण नित्य होता है, असर तो अनित्य है। तब यह असर पर्याय का सिद्ध होता है- अब बतावो यह छाया असर किसकी है और दृष्टान्तरूप में ही बतावो- देखो यह छाया हाथ की नहीं है, यह तो चौकी स्कंध की पर्याय है। हाथ की चीज होती तो हाथ के प्रदेशों में ही रहती। बात यह है कि सूर्य के निमित्त को पाकर चौकी प्रकाशरूप हो रही थी, अब हाथ सामने आ गया सो हाथ का निमित्त पाकर इतने हिस्से में यह चौकी अंधकाररूप हो गई अथवा जितने हिस्से ने सूर्य का निमित्त न पाया वह अंधकाररूप हो गई है। यह निमित्तनैमित्तिक संबंध का बड़ा रहस्य है इसे न जानने वाले अयथार्थदृष्टि बनाकर परस्पर पराधीनता की दृष्टि बनाते हैं और इसी कारण अर्थात् पर को पराधीन स्व को पराधीन देखते रहने के कारण कभी सत्य स्वतंत्र नहीं हो पाते। लोक में भी तो अपने को जो गुलाम, गुलाम की ही श्रद्धा किये रहता वह आजाद कैसे हो सकता है? भारत के नवीन पूर्वजों ने अपने को समझा और नारा लगाया कि मनुष्य का स्वतन्त्र होना जन्मसि8 अधिकार है तो सत्य आग्रह भी करते बन गया और वे स्वतन्त्र बन ही गये। यह तो लौकिक बात है। सत्य स्वतन्त्रता तो समस्त विकल्पों से मुक्त होने में मिलती है। यहां तो आर्हद्ध्वनि की घोषणा है कि वस्तु का स्वतंत्र रहना सत्तासिद्ध अधिकार है। देखो भैया !

हमारे उपदेश से आपमें असर पैदा हो जाय यह बात नहीं है। आपका असर आपमें ये ही होगा, हम केवल निमित्तमात्र होंगे। आपके दिल में यदि असर पैदा नहीं होना है तो हमारा बोल कार्यकारी नहीं हो सकता। भगवान का उपदेश सुनकर भी लोग मिथ्यादृष्टि रह जाते हैं इसका क्या कारण है? वस्तु का स्वतन्त्र परिणमन ही तो इसमें कारण है। मुंगोड़ा बनाये गये- कड़ाही में घी गरम किया गया, तो विचारिये घी क्या आग की परिणति से गरम हुआ? नहीं, वह अपने उष्ण स्पर्श बदलने की परिणति से गरम हुआ, आग केवल निमित्त है और वहां जो तैयार हुए सो बनाने वाले आदि की परिणति से हुए। नहीं, उसमें मूंग और घी आदिकी परिणति अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श से स्वयं अपने अपने रूप हो गई, वैसा होने में एक वस्तु दूसरे के लिये निमित्तरूप हो गई। किसी भी चीज के उत्पाद में वही द्रव्य मुख्य कारण होता है। अच्छा मुंगोड़ा खा रहे हैं, तो क्या उनकी परिणति से मुंह के चबाने की क्रिया हुई? नहीं, मुंह की क्रिया अपनी परिणति से हुई, मुंगोड़े की चवर्णरूप परिणति मुंह से नहीं हुई, उसकी स्वयं अपनी शक्ति से हुई। गुरु ने शिष्य को ज्ञान सिखाया तो क्या अपना ज्ञान देकर उसे ज्ञानी बनाया? नहीं, शिष्य के विशेष ज्ञान की उद्भूति उसके स्वयं में से है। वह उसकी स्वयं की परिणति है। ऐसा न हो तो गुरु को ज्ञान देकर मूर्ख रह जाना चाहिये सो तो होता नहीं।

पदार्थों का ज्ञान उनकी विशेष जानकारी और जानकारी द्वारा अपने आपको महान्, धन्य मानने के लिये नहीं है किन्तु वस्तु का स्वतंत्र स्वरूप जानकर जब हम पर में कुछ नहीं कर सकते, पर हममें कुछ

नहीं कर सकता, तब पर से उपेक्षित होकर निजस्वभाव में स्थिर होने के उद्देश्य से पहिला प्रयत्न जानकारी के करने का होना पड़ता है। यदि स्वातन्त्र्य उद्देश्य न हो तो भैया ! जानकारी से तो बिना जानकारी अच्छी, सरलता तो बनी रहेगी अथवा न जानकारी से लाभ, न बिना जानकारी से लाभ, किन्तु लाभ तो स्वरूपाचरण से है, सो स्वरूपाचरण के अर्थ अभेद-ज्ञान की आवश्यकता है, अभेदज्ञान के लिये भेदविज्ञान की आवश्यकता है और भेदविज्ञान के लिये उचित जानकारी की आवश्यकता है। निमित्तनैमित्तिक भाव का यथार्थज्ञान और वस्तु के स्वभाव की पहिचान- इन दोनों का अध्ययन व मनन निर्दोष करना चाहिये। पदार्थ जब स्वतंत्र है तो उनके गुण भी उसी स्व के तन्त्र हैं और उनकी परिणतियां भी उसी स्व के तन्त्र हैं अथवा सभी स्वतन्त्र हैं, सन्मात्र स्वतन्त्र है। निमित्तनैमित्तक व्यवस्था होते हुए भी परिणति स्व के तन्त्र है। स्वभाव से विरुद्ध जो परभाव है अर्थात् पर के निमित्त को पाकर होने वाला विभावरूप परिणमन है। पराधीन होने में भी यह परिणति स्व के तन्त्र है। इन परिणति से छूटकर शुद्ध स्वभाव के अनुरूप शुद्ध परिणमन भी स्व के तन्त्र हैं। निमित्त भी स्वतन्त्र है और उपादान भी स्वतन्त्र है।

पदार्थ की इस स्वतन्त्र शक्ति की श्रद्धा न होने से प्राणी नाना प्रकार की आकुलता में रहते हैं, व्यर्थ का पुरुषार्थ करते रहते हैं, शक्ति का अपव्यय करते हैं, सत्पुरुषार्थ में जो शक्ति का उपयोग करना चाहिये सो करते नहीं हैं, अपने अनुकूल पदार्थों के अदलने बदलने में कोशिश किया करते हैं। प्रतिकूल को अनुकूल बनाने में भिड़ें रहते हैं, अनुकूल नहीं होने पर दु:खी होते हैं, दूसरा पदार्थ अपनी उस परिणति से इसके अनुकूल पड गया तो मदमत्त हो जाते हैं। इस तरह आर्त और रौद्र की परिणतियां खेला करती हैं। ऐसा मार्गभ्रष्ट प्राणी यहां तो दु:खी होता ही है, पर आगे के लिये भी दु:ख का बड़ा भारी बोझ तैयार कर लेता है। यदि जीव, अजीवादि द्रव्यों की स्वतंत्र परिणतियां ठीक ठीक समय में आ जायें तो कोई कारण नहीं कि आत्मा को आत्मा का ज्ञान प्रकट न हो और कर्मों से अर्थात् संसार से उसको मुक्ति न मिले ! क्योंकि उसके चलने की दिशा जब सही हो जाती है तो मार्ग में बाधाएं कितनी भी आए लेकिन अंत में उसे अपने अभीष्ट पर पहुंचने से रोक नहीं सकती। पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता की बात कहने में साधारण सी लगती है किन्तु इसमें कितना रहस्य छुपा हुआ है? उसको पारखी पुरुष जल्दी समझ सकते हैं। इसमें हमारे सुख और दु:ख की पहेली है। हमारे भाग्य का व भवितव्य का निर्माण इसी पर आधारित है। हमारा भविष्य कैसा होगा? इसका उत्तर इसी में छुपा हुआ है। पदार्थ की स्वतंत्र शक्ति की श्रद्धा से जब हम देवत्व और प्रभुत्व की ओर बढ़ सकते हैं, तब इसकी अश्रद्धा से या इसके भ्रम से हम पशुत्व या नारकीय जीवन की ओर जा सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

यहां अजीवकाय का प्रकरण है। इनका नाम अजीव है इसका अर्थ इतना ही नहीं करना कि ये जीव नहीं हैं किन्तु इनमें जो असाधारण धर्म है वह चेतना से विपरीत है अर्थात् चेतनता उनमें नहीं है और अन्य स्वभाव हैं। धर्म का भाव है- जो जाते हुए जीव पुद्गलों के गमन में साचिव्य, सहकारीकारणता धारण करे, धरतीति धर्म:। अधर्म का भाव उससे विपरीत है, यह गमन में साचिव्य धारण न करके ठहरने में सहायक होता है। आकाश उसे कहते हैं जिसमें जीवादिक द्रव्य रहने देने की सामर्थ्य हो अथवा जो अपनी ही

मर्यादा से सर्वत्र रहे। पुद्गल उसे कहते हैं, जो पूरण और गलन करे अथवा जिसने पूरण गलन किया था अथवा जो पूरण गलन करेगा। परमाणु यद्यपि एक होने से स्कंध बनने रूप पूरण नहीं कर रहा और उससे कम होने रूप गलन नहीं कर रहा, किन्तु उसमें स्कंध होकर पूरण गलन करने की योग्यता है, अत: उसमें पुद्गलत्व है अथवा वह रूप रस आदि की अनेक डिगरियों की योग्यता वाला है सो उन डिगरियों को कमा देना गलन हैं और बढ़ा देना पूरण है, अत: परमाणु पुद्गल है। पुरुष अर्थात् जीव इन वर्गणावों को, पुद्गलों को शरीर आहार आदि रूप में गिलन करते हैं, ग्रहण करते हैं, इस कारण भी ये पुद्गल हैं। ये सब द्रव्य कहलाते हैं, क्योंकि इनकी पर्यायें हुई थी, पर्याय हो रही हैं, पर्यायें होवेंगी। यह परिणमनशीलता द्रव्य का स्वत:सिद्ध स्वभाव है। द्रव्य के स्वभाव को द्रव्यत्व कहते हैं। द्रव्य से द्रव्यत्व पृथक् वस्तु नहीं है। स्वभाव स्वभाववान् कहने मात्र की विवक्षा में यह भेद कथन है।

कई लोग पदार्थ के विषय में- अनेकांत का आश्रय न मिलने से गलत धारणाएं बनाये हुए हैं। कोई ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि द्रव्यत्व स्वयं द्रव्य से नहीं है। द्रव्य से द्रव्यत्व अलग चीज है और उस द्रव्यत्व के सम्बन्ध से उससे द्रव्यत्व आता है। तब प्रश्न होता है कि द्रव्यत्व का सम्बन्ध जब नहीं है तो द्रव्य द्रव्य है या नहीं? यदि नहीं है तो वह असत् कहलाया, असत् में किसी का क्या समवाय हो सकता है जिससे वह द्रव्य बने और सम्बन्ध बिना द्रव्यत्व भी असिद्ध है असत् असत् का समवाय कैसे। यदि द्रव्यत्व में समवाय के पहिले वह द्रव्य है तो फिर उसमें द्रव्यत्व के समवाय का फालतू पुछल्ला क्यों लगाया जाता है? इस तरह द्रव्य में द्रव्यत्व के भिन्न अभिन्न दोनों पक्षों में पदार्थ की यथार्थ सिद्धि नहीं होती। बहुतों को अनेकांत समझने की जिज्ञासा रहती है या कई ऐसे निष्पक्ष बुद्धि के होते हैं, कि जिन्हें अनेकांत सिद्धान्त का साहित्य दिया जाय तो वे उससे पदार्थ की यथार्थता का ग्रहण कर सकते हैं। लेकिन जैनियों का इस ओर उतना ध्यान नहीं है। आप कहेंगे कि यदि उनका सुधार होना है तो हो ही जायगा, वे स्वयं साधन मिला लेंगे, हमें उनकी चिंता का भार क्यों लेना? तो भाई किसी का सुधार बिगाड तो उसका अपना अपने से है ही, लेकिन हमारा भी तो रागदशा में कुछ कर्तव्य है, हमारे सदुपयोग के लिये। कुमार्ग में लगे हुए प्राणी दु:खी हो रहे हैं वे दु:ख से कैसे छूट जायें, सुमार्ग पर कैसे पहुंच जायें- ऐसा विचार क्या सम्यग्दृष्टि आत्मा का नहीं होता? यदि ऐसा भाव धर्मात्मा सम्यग्दृष्टियों के नहीं होता हो तो आज हम लोगों की क्या दशा होती सो समझ लो। जिन आगम वाक्यों से हमें पदार्थज्ञान हो रहा है वे कहां उपलब्ध होते? यह बात दूसरी है कि किसी किसी शास्त्र की रचना आचार्यों के अपना उपयोग जमाने के लल्य से भी होती हो, फिर भी गौण प्रयोजन तो परहित साधन का अवश्य ही रहता होगा, इतना तो अवश्य समझना चाहिये।

जो मानते हैं कि द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय आदि पृथक् पृथक् पदार्थ हैं सो ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक द्रव्य, गुणकर्मसामान्य विशेषात्मक है। जिस दृष्टि से देखा जाय, वह द्रव्य में दिखेगा। दृष्टि में प्रधानता जिसकी होगी वही रूप सामने आयेगा। जैसे जीव ज्ञानवान् है तो कोई कहे कि ज्ञान से जीव भिन्न है तो प्रश्न होता है कि ज्ञान के पहिले जीव की सत्ता थी या नहीं? यदि थी, तो ज्ञान के समवाय का व्यर्थ प्रयास क्यों किया? यदि पहिले जीव की सत्ता नहीं थी तो जीव असत् कहलाया, उसमें किसी का

सम्बन्ध कैसा? हां, ज्ञान और ज्ञानवान के भिन्न-भिन्न लक्षण समझाने की बात अलग है। क्रिया द्रव्य के प्रदेशों में होने से कर्म नाम का भी कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। सामान्य को पृथक् पदार्थ बताने के लिये कहा जाता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु व्यक्तिरूप से है और सामान्य का सम्बन्ध होने से उनमें मनुष्यत्व आदि जाति का व्यवहार होता है। सो ऐसी बात नहीं है। सामान्य विशेष द्रव्य के ही अंश हैं। जब जिस पर विचार किया जाता तब वह ध्यान में आ जाता है। समवाय भी कोई अलग पदार्थ नहीं जो सम्बन्ध कराता फिरता है। एक की परिणति से दूसरा हो यह बनता नहीं, अन्यथा उसमें से किसी एक का अस्तित्व खतम हो जाता है। सारांश यह है कि गुण कर्म सामान्य विशेष द्रव्य में हैं द्रव्य से पृथक् नहीं हैं। ये तादात्म्य से हैं तब समवाय की कल्पना व्यर्थ है।

अत: छहों द्रव्यों को सर्वदा स्वतंत्र मानना उचित है। छह द्रव्यों में से पहिले सूत्र में केवल 4 का ही नाम लिया है, उसका कारण दिखा दिया गया है। जीव भी द्रव्य है लेकिन वह कायवान होकर चेतना से रहित नहीं, वह चेतनावान विशिष्ट द्रव्य है, इसलिये उसको अलग सूत्र द्वारा कहा गया है और कालद्रव्य अजीव है पर समूह (काय) रूप नहीं। उसके अणु अलग अलग हैं इसलिये उसको भी अलग सूत्र द्वारा दिखाया गया है। ये 1 जीव 2 पुद्गल 3 धर्म 4 अधर्म 5 आकाश और 6 काल द्रव्य हमेशा से हैं, हमेशा तक रहेंगे और अपने अपने रूप से ही हमेशा से रहे हैं, हमेशा तक रहेंगे। यह कभी न होगा कि जीव पुद्गल रूप हो जाये, पुद्गल जीव या धर्मादि रूप हो जाये। इन छहों द्रव्यों में पुद्गल की यह खासियत है कि वह मूर्तिमान है- रूप, रस, गंध, स्पर्शवान् है, शेषद्रव्य इनसे रहित अरूपी हैं। ये छहों द्रव्य अपने अपने रूप से उत्पाद व्यय और ध्रौव्य गुण से विशिष्ट हैं।

पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता, उसकी अवस्थाएं बदला करती हैं और वे अवस्थाएं सूक्ष्मरूप से प्रति समय, प्रति क्षण बदला ही करती हैं, चाहे इन्हें हम समझ पावें या नहीं, अत: न कोई द्रव्य कूटस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणध्वंसी। प्रत्येक द्रव्य की द्रव्यता उसी द्रव्य के अनुरूप कायम रहकर ही उसमें परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल द्रव्य ऐसे हैं कि इनमें आपस के संयोगी परिणमन भी होते हैं, या कहिये वैभाविक विकारी परिणमन भी होते हैं और स्वाभाविक भी होते हैं। शेष 4 द्रव्यों में स्वाभाविक ही परिणमन होता है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों एक साथ द्रव्य में हैं। द्रव्य है वह प्रतिसमय परिणमता रहता है तो सभी परिणमनों में ध्रुव पदार्थ बना ही रहता है। वह एक तो है ही नहीं तो आगे समय में किसका परिणमन कहोगे? परिणमन निराधार तो होता नहीं इसलिये ध्रौव्य भी वह है और जो भी परिणमन है वही उत्पाद है और वही व्यय है। पूर्व पर्याय का अभाव उत्तरपर्याय के सद्भावरूप है सो उसी एक परिणमन को पूर्वपर्याय का अभाव कहते हैं और वर्तमान पर्याय का सद्भाव कहते हैं, इसलिये जो उत्पाद है वही व्यय व ध्रौव्य है, जो व्यय है वही उत्पाद व ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पादव्यय है, विवक्षा प्रत्येक स्थान पर पृथक् पृथक् लगाना चाहिये। जैसे सुवर्ण का कलश मिटाकर मुकुट बनाया तो मुकुट परिणमन मुकुट का उत्पाद है, कलश का व्यय है, सुवर्ण का ध्रौव्य है। कलश पहिले मिटा और नवीन पर्याय पश्चात् बने ऐसी बात नहीं

है। पदार्थ की यह परिणमनशीलता स्वभाव है, यही द्रव्य का द्रव्यत्व है। द्रव्य ही अनंत गुणों के अभेदरूप सामान्य है भेदकल्पना में विशेष है। उसकी परिणति क्रिया है। गुणादि में जो त्रिकाल या वर्तमानकाल तादात्म्य है वह समवाय है, विवक्षित द्रव्य अन्य द्रव्यों से पृथक् है, यह स्वभाव से ही है सो वही द्रव्य में अभाव है। वस्तु के स्वातन्त्र्य स्वरूप का बोध अमृत है इसे पान कर अनेक भव्य स्वतन्त्र और अमर हो गये, शाश्वत सुख के निरन्तर भोक्ता हो गये हैं। देखो भैया ! वीतराग ऋषियों की हम पर कितनी कृपा हुई, अमृतपूर्ण ग्रन्थ उनकी बड़ी देन है।

इस उत्पाद व्यय और ध्रौव्य गुण का बोध 6 द्रव्यों में अर्पित अनर्पित की अपेक्षा से यथार्थतया सब समझा जा सकता है और उससे सुमार्ग पर आत्मा को लगाया जा सकता है। आत्मा को अपने कल्याण करने के लिये यह जरूरी है कि अपने स्वयं जीव द्रव्य को और अपने से भिन्न अजीव द्रव्यों को उनकी सूक्ष्म और स्थूल विकारी और अविकारी अवस्थाओं सहित समझे। यह समझ आने पर वह कुमार्ग पर जाने से रुकने लगेगा। कामक्रोधादि विकारों में और तुच्छ विषयलालसाओं में जाने से अपने को रोकेगा तब एक दिन वह अवश्य ही अपनी अशुद्धता को खतम कर परमात्मा के रूप में प्रकट हो जायगा।

द्रव्य का द्रव्यत्व उत्पाद व्यय और ध्रौव्य मय है। उस उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को हम राष्ट्रीय तिरंगा झंडा में घटा सकते हैं। वह ऐसे कि हरा रंग उत्पत्ति का द्योतक है, लाल पीला व्यय का और सफेद रंग ध्रौव्य का जिसमें हरा और लाल दोनों रंग चढ़ सकते हैं, याने ध्रौव्य के ही उत्पाद व्यय होते हैं। झंडे में सफेद रंग बीच में होता है, उससे उत्पाद व्यय की रुकता और स्पष्ट होती है। द्रव्य आगे पीछे उत्पाद व्यय रूप से होता रहता है, उसी तरह सफेद के आगे पीछे हरे और पीले रंग होते हैं।

इस उत्पाद व्यय और धौव्यमय द्रव्य को 24 तीर्थंकरों ने अपने निर्वाध और पूर्ण ज्ञान में उनकी त्रैकालिक अवस्थाओं सहित प्रत्यक्ष जानकर हम अल्पज्ञ को बताया, अत: उस द्रव्य स्वरूप को दिखाने वाला रूपक 24 आरा वाला चक्र से चिह्नित रहना भी उपयुक्त होता है। मतलब यह कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य से सहित 6 द्रव्यें हमेशा से विद्यमान हैं, रहेंगी अभी भी उनकी सत्ता है। उनमें अपने अपने ढंग के अनंत गुण मौजूद हैं। उन्हें अनेकांत से यथार्थतया समझा जा सकता है। उससे उन्हें समझ अपने को अपने रूप रहने दें अर्थात् विकार में जाने से अपने को रोके और अपनी आत्मा को निराकुल रहने दें। किसी भी वस्तु में किसी भी अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं फिर अपने को द्विविधा में क्यों डालते हो। वस्तुतया सूक्ष्मतया देखो तो निमित्तपना भी मुकाबला कर लौटा देने मात्र का है। जैसे तेज हवा चली, हवा रेत के लाइन बन गये तो हवा ने सन्मुखता रेत की की, रेत ने मुकाबला हवा का किया, उस मुकाबले में रेत को लाइन अवस्था करनी पड़ी हवा के लौटने में। कुम्हार ने गीली मिट्टी पर आक्रमण किया, मिट्टी ने कुम्हार का मुकाबला किया, उस मुकाबले में घड़े की शकल मिट्टी को बनानी पड़ी। मिट्टी अजीब है इसलिये समझ में देर से आवेगी किन्तु चेतन अचेतन का सवाल सामने न रखकर केवल क्रिया को देखें तो समझ में झट आ जायेगा। देखो, दर्पण में वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं आता किन्तु जैसे गन्ध के परमाणु पहुँचकर या अन्य परमाणुवों को रूप रूप बना बनाकर दूर तक रूप जाता है सो रूप दर्पण से अटका और दर्पण ने रूप को

हटाया, इस हटाने के समय का चित्र है प्रतिबिम्ब। यह वस्तु जब तक सामने रहेगी यह मुकाबला प्रतिसमय होता रहेगा। तभी तो दर्पण में वस्तु दुगुनी दूर मालूम होती है। ज्ञान भी ज्ञेय को हटाता है, प्रतिसमय हटाता है, उसी का चित्र है ज्ञेयाकार। निमित्त का अर्थ निमित्त का हटाना है। प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न अन्य सबको हटाती ही है। हे आत्मन् ! अपना अतिस्वतंत्र स्वरूप देखो और स्वयं में रमकर सत्य सुखी होओ।

ॐ शान्ति

तत्त्वार्थ षष्ठ प्रथमसूत्र प्रवचन

''कायवाङ्.मन: कर्मयोग: स आस्रव:।''

काय, वचन और मन के हलन चलन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होने को आस्रव कहते हैं। आस्रव को 2 तरह से कह सकते हैं- 1- भावास्रव और 2- द्रव्यास्रव। 1- जीव के स्वभाव में राग द्वेषादि विभाव का आना भावास्रव और सामान्य कार्माणवर्गणाओं का कर्मरूप होकर आना द्रव्यास्रव है। इसी तरह बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष में भी भाव और द्रव्य द्वारा कह सकते हैं। जैसे जीव के स्वभाव में विभाव का बंधना सो भाव बंध, उस विभाव का रुकना सो भाव संवर, विभाव का कुछ कुछ दूर होना सो भाव निर्जरा और सम्पूर्ण विभाव भावों का दूर होना भाव मोक्ष है। इसी तरह द्रव्यबंध आदि में विचारना सामान्य पुद्गलों का कर्म रूप होकर, पुरातन कर्मों के साथ मिलना द्रव्यबंध, कर्मरूप होने से रुकना द्रव्यसंवर और कुछ कर्मों का कर्मत्वशक्ति से रहित होना द्रव्यनिर्जरा और सम्पूर्ण कर्मों का कर्मत्व शक्ति से रहित होना द्रव्यमोक्ष है। अनतरंग में इस बात को विचारना चाहिये कि ज्ञानावरण आदि कर्म व रागादि तथा मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान- ये सब जीव के कहना व्यवहार से है और सामान्य चैतन्यमात्र जीव को जानना निश्चय से है। इस दृष्टि में जीव को ध्रुव जाना जाता है और कर्मादि को अध्रुव। जो ध्रुव है अर्थात् सदा रहने वाली चीज है वह ज्ञायक है और जो सदा नहीं रहे वह अपना स्वरूप नहीं है। जगत के ज्ञेयों से जीव का सम्बन्ध नहीं है, ये जीव से अत्यन्ताभावरूप है। उसमें ज्ञेयाकार का ज्ञायक आत्मा है, जीव ज्ञायक चित्स्वभावमय है और अजीव ज्ञेयाकार है। ज्ञायक का ज्ञेय में आना आस्रव है। ज्ञायक का ज्ञेयाकार रूप होना बन्ध है। शुद्ध ज्ञायक के उपयोग में ज्ञायक का ज्ञेयाकार रूप होते रुक जाना संवर है, ज्ञायक में ज्ञेयाकारता खतम होते जाना निर्जरा है और उपयोग में ज्ञेयाकारता सम्पूर्ण खतम होना केवल ज्ञायक रह जाना मोक्ष है। ज्ञायक आत्मा वास्तव में बाह्य पदार्थों को नहीं जानता, उपचार से बाह्य पदार्थों को जानना कहा जाता है। वस्तुत: अपने अपने द्रव्य के गुण और उनकी पर्यायें उसी में रहती हैं।

जैसे स्वच्छ दर्पण है, उसके सामने कोई रंगीन चीज होने से उसमें रंगीन प्रतिबिम्ब दिखता है। दर्पण में निजी स्वच्छता होने पर भी उसमें रंगीन प्रतिबिम्ब भी है, वह रंगीन प्रतिबिम्ब उसकी पर्याय है, वह अध्रुव है जबकि स्वच्छता ध्रुव है। उसी तरह ज्ञायकता ध्रुव है और ज्ञेयाकार नवीन होने से अध्रुव है। एक शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने से शुद्ध निश्चय नय का विषय है और दूसरा अशुद्ध पर्याय को ग्रहण करने से अशुद्ध निश्चयनय का है, दोनों अध्रुव हैं। जिसने अपने में से अध्रुव को निकाल दिया उसकी दृष्टि चित्स्वभाव पर है। ज्ञायक का ज्ञेयाकार में आना सो आस्रव और ज्ञेयाकार में ठहरना सो बंध है। पर्यायदृष्टि का न आने देना सो है- संवर पर्याय। पर्यायदृष्टि को हटाकर धीरे धीरे शुद्ध उपयोग में लाना सो निर्जरा है, केवल शुद्ध उपयोग रह जाना सो मोक्ष है। यह भी कहने का तरीका हो सकता है। यदि हम इस दृष्टि से 7 तत्त्वों को उपयोग से घटावें तो वे हमारी दृष्टि में आवेंगे।

यहां तो सातों तत्त्व एक साथ चल रहे हैं। देखो ज्ञान तो ज्ञायक (चेतन) हैं, ज्ञेयाकार ज्ञेय है, अज्ञायक है। यहां ज्ञायक को जीव समझना, ज्ञेयाकार को अजीव समझना। ज्ञेयाकार प्रतिसमय आता है सो आस्रव, और ज्ञेयाकार एक समय को ठहरता है सो बंध, आगामी होने वाले ज्ञेयाकारों को नहीं आने देता सो संवर, ज्ञेयाकारों को जो लौटाता रहता है सो निर्जरा, ज्ञेयाकार से भिन्न स्वच्छतामात्र निजस्वरूप में रहता है सो मोक्ष।

इस छठे अध्याय में असद्भूत व्यवहार और उपचार का कथन है। इसमें भावास्रव व द्रव्यास्रव का वर्णन है। मन वचन काय की क्रिया स्वयं आस्रव नहीं है, क्योंकि वह कर्म से भिन्न है सो द्रव्यास्रव भी नहीं और तीनों जड़ की क्रिया हैं सो भावास्रव नहीं किन्तु द्रव्यास्रव के तो निमित्त का निमित्त है और भावास्रव का निमित्त है। ये तीनों अर्थात् मन वचन कायक्रिया, भावास्रव व द्रव्यास्रव युगपत् होते हैं। काय वचन मन की क्रिया तो नोकर्म-परिणति है और भावास्रव आत्मा की परिणति है व द्रव्यास्रव कर्मवर्गणापरिणति है। मन वचन काय की क्रिया के निमित्त से जो आत्मप्रदेश से जो परिस्पंद होता है उसे योग कहते हैं। वस्तुत: योग आत्म-प्रदेशपरिस्पंद ही है तथापि कारण में कार्य के याने निमित्त में नैमित्तक के आरोप से मन वचन काय की क्रिया को भी योग कह देते हैं और इस तरह मूल योग 3 हैं- 1 मनोयोग, 2 वचन योग, 3 काययोग। उत्तर भेद योग के 15 हैं (1) सत्यमनोयोग, (2) असत्यमनोयोग, (3) उभयमनोयोग, (4) अनुभयमनोयोग, (5) सत्यवचनयोग, (6) असत्य वचनयोग, (7) उभयवचनयोग, (8)अनुभयवचनयोग, (9) औदारिककाययोग, (10) औदारिकमिश्रकाययोग, (11) वैक्रियककाययोग, (12) वैक्रियकमिश्रकाययोग, (13) आहारकाययोग, (14)आहारकमिश्रकाययोग, (15) कामार्णकाययोग।

आस्रव को हेयरूप श्रद्धान करने की बात है, आस्रव से विपरीत भाव को उपादेय रूप से श्रद्धान करने की बात है अथवा दोनों को ज्ञेयरूप से श्रद्धान करें। इस तरह जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान होने से सम्यग्दर्शन होता है। आस्रव और बंध में अन्तर आने और प्रवेश होने का है। आना अभिमुख होना रूप है और प्रवेश सम्बन्ध रूप है। आत्म–प्रदेशों का मन वचन काय के निमित्त से परिस्पंद होना योग है और वही आस्रव है। मन वचन काय के परिस्पंद बिना आत्म-प्रदेश नहीं हिलते, इसलिये योगों को ही आस्रव कह दिया है। आना नि:शंकता से होता है यदि आत्मा को अपनी श्रद्धा होगी तो वह ज्ञान स्वभाव में आयेगा, श्रद्धा नि:शंक होने के कारण से। जिन्हें कषायों में आत्मस्वरूप की श्रद्धा है उनमें क्रोधादि कषायें आएंगी।

क्रोधादि का आना आस्रव है जो कि स्वभाव के प्रतिपक्ष है। स्वभाव भाव में आने का नाम आस्रव नहीं है। जैसे घर में बाहर वालों के आने का व्यवहार होता है उसी तरह आत्मा में भी समझना। आत्मा का स्वभाव भाव उसका है उसका आना आस्रव नहीं कहलाता जबकि विभाव का आना आस्रव कहलाता है। जो प्रतिषिद्ध होता है उसके व्यवहार में आस्रव होता है। ज्ञान से तादात्म्यभूत आत्मा व ज्ञान में जो भेद नहीं देखता तो वहां वह आत्मा केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है। आत्मा और रागादिक का संयोग सम्बन्ध है, अध्रुव है। तादात्म्य त्रिकाल सम्बन्धी है, संयोगसम्बन्ध क्षणवर्ती होता है। वर्तमान की अपेक्षा तो रागादिक का भी तादात्म्य कह सकते है। जैसे ज्ञानी आत्मज्ञान में नि:शंक है उसी तरह अज्ञानी क्रोध मोहादि में भी

नि:शंक हो जाता है। जो संसारी रागादि में रहकर अपने को बड़े मानते हैं, बड़े बनते रहते हैं, वे मृत्यु के बाद क्षणभर में क्या हो जाते हैं सो विचारो। उनको नारकी बनना पड़ता है, कीड़े-मकौड़े और पशु पक्षी की पर्याय प्राप्त करनी पड़ती है। इससे रागादि विभावों को स्वभाव से भिन्न जान इन्हें दूर करना चाहिए। जिसने क्रोधादि में अभेद देखा वह उसमें ठहर गया और उसने राग द्वेष मोहादि को बढ़ाया अथवा आस्रव किया। लेकिन जिसने भेदविज्ञान का सहारा लिया उसने आस्रव को रोका और वीतरागता को बढ़ाया।

कायद्वारा आस्रव कम होता है, वचन के द्वारा उससे ज्यादा और उससे ज्यादा मन के द्वारा होता है। इसीलिये सूत्र में ऐसा क्रम रखा है कि पहिले काय फिर वचन और फिर मन योग का नाम लिया। लेकिन योगों के नष्ट होने का क्रम ऐसा है कि अरहंत के आयु का अंतर्मुहूर्त शेष रह जाने पर यदि समुद्धात होता है तो समुद्धात होने पर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान करता है और कृष्टि करता है। पहिले बादरकाय योग की कृष्टि फिर बादर वचन योग की कृष्टि फिर बादर मनोयोग की कृष्टि करता है। फिर सूक्ष्म वचनयोग, मनोयोग और काययोग को नष्ट करके अयोग केवली होता है। आत्मा पर मन का असर होता है, मन पर वचन का और वचन पर काय का असर होता है। कितने ही अन्तरंग बाह्य कारणों से कई क्रम हैं।

काययोग के स्वामी अधिक हैं, वचनयोग के स्वामी उनसे कम हैं, मनोयोग के स्वामी उनसे कम हैं। इस तारतम्य को बताने वाला यह क्रम है। गुणस्थानों की अपेक्षा यद्यपि ये तीनों योग 13 वें गुणस्थान के अन्त में नष्ट होते हैं तथापि काययोग सबसे अन्त तक रहता है, वचनयोग उससे पहिले तक रहता है, मनोयोग उससे पहिले तक रहता है। वस्तुत: मनोयोग 12 वें तक ही रहता है। 13 वें में तो मनोवर्गणा की अपेक्षा से है। यह रहस्य भी इस क्रम से प्रकट होता है। 13 वें गुणस्थान में काययोग तो भले प्रकार सिद्ध है, वचनयोग हम लोगों की तरह नहीं है सो उससे शिथिल सिद्ध है क्योंकि बिना तालु कण्ठ के प्रयत्न के सर्वांग से भाषावर्गणा खिरती है, मनोयोग मात्र उपचार से सिद्ध है क्योंकि 13 वें गुणस्थान में न मनोबल है और न संज्ञित्व है, केवल द्रव्य मनोवर्गणा आने से मनोयोग कहा जाता है- यह मर्म भी इस क्रम में सिद्ध है। काययोग का एकेन्द्रिय से प्रारम्भ है, वचनयोग का द्वीन्द्रिय से प्रारम्भ है, मनोयोग केवल सैनी पञ्चेन्द्रिय के है- यह क्रम भी इस क्रम में अन्तर्निहित है। जिनके केवल काय होता है उनके स्थिति अनुभागबंध की कम योग्यता है, जिनके काय व वचन होता है उन जीवों के स्थितिबन्ध व अनुभागबंध की योग्यता अधिक है तथा जिन जीवों के काय वचन मन तीनों होते हैं उन जीवों की स्थिति व अनुभागबंध की योग्यता विशेष अधिक है। यह तारतम्य भी इस क्रम से सूचित होता है। काय वालों के वचन व मन हो भी या न भी हो, वचन वालों के काय नियम से होगा, मन हो चाहे न हो; मन वालों के काय व वचन नियम से होता है। यह भाज्यपना भी इस क्रम में निहित है। काय की पर्याप्ति पहिले पूर्ण होती है, वचन की पर्याप्ति पश्चात् पूर्ण होती है। मन की पर्याप्ति उसके भी पश्चात् पूर्ण होती है। इस पर्याप्ति क्रम का सूचक भी यह क्रम है। काय विशद व्यक्त है, वचन कुछ व्यक्त है, मन अव्यक्त है- यह मर्म भी इस क्रम में निहित है। इस क्रम के रखे जाने के इसी प्रकार अनेक कारण हैं।

जो आवे सो आस्राव्य और जो आने दे वह आस्रावक है। एक मूल तत्त्व का वर्णन करने में सातों तत्त्वों को उसमें लगावें। जहां एक तत्त्व आस्राव्य होता है वहां दूसरा आस्रावक बनता है। जहां कर्म आस्राव्य होगा वहां जीव आस्रावक होगा और जहां रागादि जीव के विभाव आस्राव्य होंगे वहां कर्म उसका निमित्त होने से आस्रावक होगा। जिसकी जो पर्याय है उसे उसके सन्मुख कर दृष्टि में स्रोत को मुख्य करो जैसे दर्पण में रंगीन चीज का प्रतिबिम्ब पड़े तो उसमें बाहर से कुछ नहीं आया; जिस चीज का प्रतिबिम्ब पड रहा है उसका द्रव्य, गुण और पर्याय में से कुछ नहीं आता, उस द्रव्य का गुण, पर्याय उसमें ही रहता है। यदि प्रतिबिम्ब रूप में बाहिरी चीज का कोई गुण या पर्याय आई हो तो उस चीज में वह द्रव्य गुण पर्याय नहीं रहना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। तब फिर दर्पण में प्रतिबिम्ब क्या उसका है? यह प्रश्न उठता है तो समाधान है कि हां, दर्पण में जो प्रतिबिम्ब है वह उसका है, लेकिन वह उसका स्वभाव नहीं, विभाव है। अन्य पदार्थ के निमित्त से उसकी यह विकारी पर्याय है। वह रंगीन प्रतिबिम्बित पर्याय उसके स्वभाव में से नहीं आई, विभाव से आई। इसी तरह आत्मा के लोभ आदि विभाव आत्मा के ही हैं, पुद्गल कर्म के नहीं, किन्तु कर्म के निमित्त से आते हैं इसलिये कभी कभी उसके कह दिये जाते हैं। वे राग द्वेषादि आत्मा के स्वभाव से नहीं आते इसलिये उसके नहीं हैं- ऐसा भी कहा जाता है लेकिन वह विभाव आत्मा की विभाव शक्ति के कारण परनिमित्त पाकर आत्मा में ही आया और निमित्त के अभाव में आत्मा में ही विलीन हो जाता है। किसी भी द्रव्य की पर्याय उस द्रव्य के प्रदेशों के बाहर नहीं जाती। वह उसमें ही अपने चतुष्टय से मौजूद रहती है। दर्पण में उसकी अपनी ही शक्ति है जो प्रतिबिम्बरूप हो जाती है। दर्पण का रंग पलटन उसमें से ही है। गुप्त (शक्ति) रूप से दर्पण का स्वच्छ स्वभाव बने रहने पर भी वर्तमान में उस स्वच्छ पर्याय को छोड़कर प्रतिबिम्बितरूप या विभाव रूप पर्याय होती है। उसी तरह आत्मा के विभाव आत्मप्रदेशों में ही है, वे उसकी ही पर्यायें हैं। आत्मा शुद्धस्वभाव पर्याय को छोड़कर उस समय विभाव पर्याय में आती है, तो भी शक्ति रूप से स्वभाव उसका बना रहता है, नष्ट नहीं होता। जब उसकी वह विभाव पर्याय विलीन हो जाती है तब स्वभाव पर्याय उसकी प्रकट हो जाती है।

जीव में परिणति याने परिणाम एक समय में एक होता है और वह अनेक निमितत्त्वयुक्त है। कहो, वही परिणाम आस्रव, बंध, संवर व निर्जरा चारों में निमित्त रहे परन्तु शक्त्यंश रूप कारण विभिन्न है। निश्चय से तो आत्मा के न मन है, न वचन है, न काय है, न इनकी क्रिया है तथा न मनोयोग है, न वचनयोग है, न काययोग है तथा न आत्म प्रदेश प्रतिस्पंद है तथा न भावास्रव है, न द्रव्यास्रव है। द्रव्यास्रव, मन, वचन, काय व इनकी क्रिया आत्मा में उपचार से कही है और मनोयोग वचनयोग काययोग या परिस्पंद व्यवहार से कहे गये हैं, भावास्रव अशुद्ध निश्चयनय से है। व्यवहारदृष्टि में ये सब सिद्ध हैं, निश्चयदृष्टि में ये सब अविवक्षित और अलक्षित हैं। आस्रव न होने देने का अमोघ उपाय शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य और उसी में स्थैर्य है। इसका उपाय द्रव्य गुण पर्याय का यथार्थ बोध है। जिस द्रव्य की जो पर्याय है वह उसके चतुष्टय से ही हुई है, जो जिसके चतुष्टय से ही हुई है उसे उस मूल के ही समक्ष रखो अन्य पर दृष्टि मत करो इस उपाय से अर्थात् निमित्तदृष्टि के अभाव से द्रष्टा ऐसा विशुद्ध उपयोगी हो जायगा

कि वह पर्याय भी उसके उपयोग से खिसक जायगी तब वह द्रव्य द्रष्टा रह जायगा, वहां विकल्प के टिकाव का स्थान ही नहीं सो निर्विकल्प स्वभाव-द्रष्टा रह जायगा। यह योग को निष्फल करने का अमोघ योग है। सजातीय वस्तुवृन्द ! यह श्रेष्ठ मन पाया है तो इसका उपयोग संसार के छेद में कर लो। देखो आस्रव तत्त्व को भी भूतार्थ से देखो तो कल्याण का मार्ग है, अन्य तत्त्व को भी भूतार्थ से देखो तो कल्याण का मार्ग है।

कर्म आस्राध्य हैं, विभाव हैं, लेकिन वही आस्रावक भी हैं। वहां आस्राव्य जीव की रागादि पर्याय होती है। जीव के उस विभाव पर्याय होने में कर्म निमित्त कारण है, इसलिये वह आस्रावक है। लेकिन जीव की विभाव पर्याय कभी हो, उसी की रहेगी। कर्म में जो आस्रावक या आस्राव्य पर्याय है वह उसकी ही है। अत: जिसकी जो पर्याय है उसे उसी में निरखो। इससे लाभ यह होगा कि निमित्त की दृष्टि न रहेगी और फिर आस्रव भी मिट जावेगा।

उस आस्रव में पुण्यास्रव का कारण शुभयोग और पापास्रव का कारण अशुभयोग होता है। मन में दयारूप परिणाम होना, दूसरों के क्लेश देर करने रूप परिणाम होना, रत्नत्रय धर्म या उनके धारकों में आदर होना, उनकी भक्ति विनय भाव होना, देवशास्त्र गुरु की पूजा के भाव होना, पात्र या दीन दुखियों में दान के भाव होना, साधु पुरुषों के प्रति वैयावृत्य के भाव होना, प्राणियों के अभय रहने रूप भाव होना, आत्मा को सुमार्ग पर लगाये रखने के भाव होना शुभमनोयोग है। परदु:खहरण या परहित की बात कहना; हित, मित, प्रियवचन बोलना, तत्त्व प्ररूपण करना, मोक्षमार्ग का उपदेश देना, देव गुरु शास्त्र की स्तुति करना, धर्मात्माओं से धर्मकथा करना आदि शुभवचन योग है।

देव गुरु शास्त्र की कायिक विनय करना, हाथ जोडना, मस्तक नवाना, उनके समक्ष विनयपूर्वक यथास्थान खड़े रहना या बैठना, साधुओं का वैयावृत्य करना, दान देना, तीर्थयात्रा करना, पूजा करना, शारीरिक सेवा करके दूसरे के रोग को, दु:ख को, भय को, शोक को दूर कर देना शुभकाय योग है। इनसे शुभास्रव होता है। इनके विपरीत अशुभ आस्रव है। जैसे- मन में संक्लेश परिणाम होना, चिंता, भय, शोक, ईर्ष्या, निंदा, कपट, लोभ, अहंकार, काम, क्रोध आदि के भाव होना, देव गुरु शास्त्र के प्रति अश्रद्धा या अविनय के भाव होना, किसी को दु:ख देने या नष्टभ्रष्ट कर देने के भाव होना, विषय सेवन के भाव होना आदि अशुभ मनोयोग है।

हिंसाकारी, दु:खदायी, कठोर, असत्य वचन बोलना, दूसरे की निंदा तिरस्कार करना, धर्म या धर्मात्मा के प्रति अयोग्य मदभरे वचन कहना, अविनयपूर्वक वचन बोलना, काम, क्रोध, लोभ और हंसी मजाक के वचन कहना, कुमार्ग में लगा देने वाले वचन कहना, अपने विषयपुष्टि के वचन कहना आदि अशुभ वचनयोग है। लात, मुक्का आदि से किसी को पीड़ा देना, जीव का घात कर देना, बड़ों के प्रति उद्दण्डता का, अहंकार का व्यवहार करना, शरीर द्वारा देव गुरु शास्त्र का अविनय करना, शरीर से असावधान रूप वृत्ति करना आदि अशुभ काययोग है।

जिस मन वचन काय के योग से घातिया कर्मों का तीव्र अनुभाग से आस्रव होता है वह सब अशुभयोग हैं क्योंकि घातियाकर्म पापरूप ही है। घातियाकर्म का मुख्य अनुभाग सहित आस्रव अशुभ योग से नहीं होता। अघातिया में कोई पापरूप और कोई पुण्यरूप है। उसमें पुण्य प्रकृतियों के बंध योग्य योग शुभ कहलायेंगे। जैसे- पूजा, भक्ति, परोपकार आदि। पापप्रकृतियों के बंध योग्य योग अशुभयोग कहलाता है, जैसे- रोना अशुभयोग है क्योंकि अरति या शोक का बंध करने वाला वह योग है और वह बंध योग्य प्रकृति घातिया कर्म ही है अत: अशुभ है। उसी तरह हंसना भी अशुभ योग है, क्योंकि उससे हास्यादि प्रकृति बंधती हैं जो घातिया कर्मों में से मोह कर्म की प्रकृतियां हैं। ये अशुभयोग पापोदय से होते और पापबंध के भी कारण होते हैं। इन अशुभ और शुभ

का होगा, शेष भाग खर्च में लगाऊंगा। इस तरह 5 व्रतों को ग्रहण कर वह अपना व्रती जीवन बिताने लगा। जैसा उसने नियम लिया वैसा ही निभाने लगा, रंचमात्र भी उसमें कमी नहीं आने देता था। एक दिन जब वह शहर में लकड़ी बेचने जा रहा था एक सेठ के नौकर ने उसके गट्ठे को ठहराया। उसने लकड़हारे से पूछा- गट्ठा कितने का देगा? उसने एक दाम बताया आठ आने, तब नौकर ने पाँच आने से लेकर धीरे धीरे सात आने तक दाम लगाये। गट्ठा उसने नहीं दिया और आगे बढ़ गया। आगे बढ़ते देख नौकर ने उसे लौटने को कहा। वह लौट आया, तब नौकर ने कहा भाई साड़े सात आने ले लेना। उसे कुछ खीज आई और बोला कि तू किस बेईमान का नौकर है? नौकर का मालिक मकान के ऊपर बैठा हुआ यह सब सुन रहा था। उसने लकड़हारे की लकड़ी गिरा ली और आठ आने पैसा भी दिये लेकिन वह झुंझला कर पूछता है कि तूने मुझे बेईमान क्यों बनाया? लकड़हारा बोला सेठजी आप जैसे होंगे आपका नौकर भी वैसा होगा अथवा नौकर का व्यवहार वही होता है जैसा उसके मालिक का। मैंने आपके नौकर की असद् वृत्ति देखकर सोच लिया कि इसका मालिक भी ऐसा ही होना चाहिये और फिर सेठ जी ! मैं आपको अच्छी तरह जानता हूं कि आप हर दिन धर्मोपदेश सुनकर भी पांचों पापों में किस तरह फंसे हुए हो। यदि आप सुनना चाहें तो आपको सारा भेद अभी सुना दूं। वह यह भी बोला कि मुझे तो एक दिन का ही उपदेश सुनने को मिला और मैंने पापों को बुरा समझकर उसी समय छोड़ दिया। सेठ लकड़हारे की बातों को बड़े ध्यान से सुन रहा था। उसे मानो किसी साधु का उपदेश लग गया हो। वह बोला बेशक भाई आप मुझसे अच्छे है, मैं हमेशा धर्म श्रवण करके भी पापी बना हुआ हूं। लेकिन अब मुझे होश आया है और मैं भी परम्परा मोक्ष के कारण पाँच व्रतों का यथाशक्ति पालन किया करूंगा। प्रत्येक व्यक्ति को इस कथा से शिक्षा लेनी चाहिये। बारबार धर्मोपदेश सुनकर भी, शास्त्र स्वाध्याय करके भी हमने व्रतों को ग्रहण नहीं किया तो उस श्रम से क्या लाभ? उसका लाभ तो यही है कि बात को जैसी की तैसी समझो, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा समझो। बुरा और कुछ नहीं, हमारे राग, द्वेष और मोह भाव ही बुरे हैं जिनके कारण हम बाह्य पदार्थों को अपना मान रहे हैं और उनसे जबरदस्ती चिपट रहे हैं, जबकि वे कभी भी अपने नहीं होते। बाह्य पदार्थों को दोष न दें अन्तरंग को साफ करो, अपने शुद्ध स्वरूप को देखो और फिर रागद्वेष आदि कषायों को छोड़ो। मुनि नहीं हो सकते तो श्रावक की अहिंसा का ही पालन करो। अहिंसा व्रत पालने से सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिणाम व्रत पाला ही जायगा, क्योंकि ये 4 शेष व्रत अहिंसा के ही साधक होते है। इनके बिना अहिंसा धर्म नहीं पलता।

अभिप्राय पूर्वक नियम करने को व्रत कहते हैं। यदि कोई भाई व्यसन सेवन न करता हो, किन्तु उसका त्याग नहीं किया तो वह व्रत की कोटि में नहीं है। व्रत वह बाड़ है जिससे अशुभ परिणाम का निमित्त मिलने पर भी आविर्भाव नहीं होता। अहिंसा सर्वोपरि व्रत है। अपनी व पर की हिंसा न करना अहिंसा है। बाह्य हिंसा की प्रवृत्ति तब होती है जब हिंसाप्रवर्तक अपने आपकी हिंसा कर लेता है। राग द्वेष मोह भाव ही स्वहिंसा है और राग द्वेष मोह से पृथक् निज ज्ञायक भाव की स्वच्छ परिणति अहिंसा है। यह समागम सर्व मेरे से अत्यन्त भिन्न है, यह शरीर कुछ दिनों बाद परिचित अपरिचित लोगों द्वारा अग्नि में

जला दिया जावेगा, ये अहंकार प्रतिष्ठा पर समयता के विकल्प आत्मा के शत्रु हैं। हे आत्मन् ! इन सब परभावों से भिन्न निज ध्रुव ज्ञायक स्वभाव को देखो और अहिंसक बनो। यह नरजन्म बड़ी कठिनता से मिला है। अब ऐसा उपाय करो कि कोई अबकी झंझट न रह जाय। यह उत्कृष्ट उपाय बना लेने की योग्यता इस नरभव में हम आपको प्राप्त है। इन पांचों पापों से विरति लो, इसके साधन में अपनी चर्या ठीक बनाओ। रात्रि भोजन नहीं करना, छना हुआ व प्रासुक जल उपयोग में लेना, अभक्ष्य भक्षण नहीं करना, अन्याय नहीं करना, अपने स्वरूप की सावधानी रखना आदि संयमांशों को पालन करो। अपने जीवन भर सदाचार प्रवृत्ति रखें, अन्त में मरना तो पड़ेगा ही सो इसमें अपनी हानि न समझकर समतापूर्वक शरीर से अलग होवें।

प्रत्येक मनुष्य को समाधिपूर्वक आत्मध्यान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक मरण करने की भावना रखना चाहिये। मरना तो अवश्य पड़ता है, लेकिन तड़पते हुए मृत्यु करना अच्छा नहीं। मृत्यु के समय शरीर से निकलती हुई आत्मा को अपना भान हो, पर में ममता न रहे आनन्दपूर्वक यह प्राण छोड़े इसके लिये जरूरी है कि जीवन में कुछ धर्म साधा जाय। नहीं तो मरने के समय एकाएक परिणाम अच्छे कैसे होंगे? कटनी के 2 जैनी भाइयों का वृत्त प्रसिद्ध है कि:-

वहां दो भाई प्रेमपूर्वक रहते थे। बड़ा भाई पूजा, दान, स्वाध्याय में विशेष भाग न लेता था किन्तु छोटा भाई इन धार्मिक कार्यों में खूब लगा रहता था। एक बार छोटे भाई ने बड़े से कहा कि आप भी धर्मपालन में विशेष ध्यान दें। बड़े भाई ने कहा, भाई मैं यही धर्म करता हूं कि तुम्हें धर्म करने में मदद पहुँचाऊं। आप निश्चिन्त होकर धर्म साधन में लगे रहिये, गह रोजगार की कुछ भी चिन्ता न करें; इसकी संभाल मैं करता रहूंगा। बड़े भाई की यह भद्रता कुछ कम नहीं थी और वैसे भी वह मन्दकषायी सरल परिणामी था। भाग्य से छोटे भाई की मृत्यु का समय पहिले आया। मृत्यु के समय उसके परिणाम कुछ शिथिल होने लगे, वह ममता का भाव प्रकट करने लगा। तब बड़े भाई ने उसको चेताया कि जीवन भर तुमने जो धर्म साधना की है उसका यही फल है कि अन्त समय अपना बिगाड कर रहे हो, सबसे ममता तोड़ो। जब तुम्हारी आत्मा दूसरी जगह जा रही है तब यहां का क्या विचार करना? आगे का विचार मजबूत बनाओ। यह सारा धन प्रस्तुत है, सारा ही अपने बच्चों को सौंप दो, जितना चाहो दान करो। छोटे भाई के हृदय में आत्म-प्रकाश आया। गिरते हुए परिणामों को संभाल लिया और समाधिपूर्वक प्राण छोड़े।

यदि उसने अपने जीवन में धर्म का अभ्यास न किया होता तो उन शिथिल परिणामों को तत्क्षण, धर्मरूप बदलने में वह कैसे समर्थ होता? और देखो बड़े भाई ने अंतरंग से धर्म किया। सो मृत्यु को अवश्यंभावी जान उसे ढंग से करने की साधना समय रहने तक कर लेना ही बुद्धिमानी है। नहीं तो पछताने के सिवा और कुछ नहीं रहता। जैसा कि हम मरते हुए कीड़े-मकौड़े, पशु पक्षियों और मनुष्यों को देखते हैं कि वे तड़पते तड़पते अपने प्राण छोड़ते हैं और यह सुनिश्चित है कि जैसी अवस्था में प्राण छूटते हैं, मरकर जीव शीघ्र ही वैसी ही योनि में पहुंचता है।

संसार में कौन तुम्हारा है? किसका तुम क्या कर सकते हो? तुम्हारा कौन क्या करता है? ध्यान से विचारो तो सही। महान् प्रतापी, अर्धचक्री नारायण कृष्ण और बलभद्र बलदेव धधकती हुई द्वारका से अपने माता पिता को नहीं निकाल सके। ये कृष्ण और बलदेव वही थे जिनके कुछ क्षण पहिले ही हजारों देव चाकरी में खड़े रहते थे। इस पाप, पुण्य के उदय की दशा को और इनसे भिन्न आत्मस्वभाव को देखो तो ही भला है। नहीं तो क्या पता कि आगे हम जीव को और कब तक भटकना है और क्या क्या दु:ख भोगने हैं? हमें ऐसे वे खोटे दिन न देखने पड़ें, इसके लिये नि:शल्य हो व्रतों को निर्दोष पालो और समाधिपूर्वक मरण का उत्सव आने दो।

ॐ शान्ति

तत्त्वार्थ अष्टम प्रथमसूत्र प्रवचन

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बन्धहेतव:।''

मिथ्याग्दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। विपरीत अभिनिवेश को मिथ्याग्दर्शन कहते हैं। ये 5 तरह के हैं- (1) एकांत, (2) विपरीत, (3) विनय, (4) संशय और (5) अज्ञान। 1- एकांत मिथ्यात्व में किसी पक्ष का हठ रहता है। 2- विपरीत में सब दृष्टिकोणों में उल्टा हठ रहता है। 3- विनय मिथ्यात्व में सुतत्त्वकुतत्त्व में समान आदर का अभिप्राय रहता है। 4- संशय मिथ्यात्व में पदार्थ का निश्चय न हो सकने से संदेहरूप अभिप्राय रहता है और अज्ञान मिथ्यात्व में तत्त्वों का ज्ञान न होने से अनध्यवसायरूप रुचि होती है।

इन्द्रियों और मन के विषयों से विरक्त न होना, अविरति है तथा 6 काय के जीवों की हिंसा से विरक्ति नहीं होना भी अविरति है। अविरति 12 तरह की है- (1) स्पर्शन, (2) रसना, (3) घ्राण, (4) चक्षु और (5) कर्ण, (6) मन की विषयों में प्रवृत्ति होना, (7) एकेन्द्रिय जीव में पृथ्वीकायिक जीव के घात का त्याग नहीं करना, (8) जलकायिक जीवों के घात का त्याग नहीं करना, (9) अग्निकायिक जीवों के घात का त्याग नहीं करना, (10) वायुकायिक जीवों की हिंसा का त्याग नहीं होना, (11) वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करना और (12) दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय व पाँच इन्द्रियरूप त्रसकाय की हिंसा का त्याग नहीं होना।

आत्मा के असावधानरूप परिणाम को प्रमाद कहते हैं। इसके 15 भेद हैं- 1- रागपूर्वक स्त्रीसम्बन्धी बातचीत करना, 2- राजकथा करना, 3- भोजन विकथा करना, 4- देशसम्बन्धी रागद्वेषपूर्ण बातचीत करना, 5- क्रोध कषाय, 6- मानकषाय, 7- माया कषाय और 8- लोभ कषाय, 9- स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों के वृत्ति के वश होना, 10- रसनेन्द्रिय विषयों की वृत्ति के वश होना, 11- घ्राणेन्द्रिय के विषयों की वृत्ति के वश होना, 12- चक्षुरिन्द्रिय के विषयों की वृत्ति के वश होना, 13- श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों की वृत्ति के वश होना, 14- मन के विषयों की वृत्ति के वश होना तथा निद्रा लेना और 15- संसार की चीजों में प्रेम करना- इस तरह 15 भेद हुये।

कषाय 25 हैं जो कि चारित्र मोहनीय के भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि 16 और हास्यादि 9, अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व व स्वरूपाचरणचारित्र का बाधक है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशसंयम का बाधक है। प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयम का बाधक है। संज्वलन कषाय यथाख्यातसंयम का बाधक है। हास्यादि में हास्य से हास्य में वृत्ति होती है, रति से इष्टविषयों में प्रीति की वृत्ति होती है, अरति से अनिष्ट विषय से अरति होती है, शोक से रंज होता है, भय से डर होता है, जुगुप्सा में ग्लानि होती है, वेदों से मैथुन के परिणाम होते हैं। योग 15 होते हैं। मनोयोग 4- सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग। वचनयोग 4- सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और

अनुभय वचनयोग। कामयोग 7 औदारिक काययोग 10 औदारिक मिश्रकाययोग 11 वैक्रियक काययोग 12 वैक्रियक मिश्र काययोग 13 आहारकाययोग 14 आहारक मिश्रकाययोग और 15 कामार्ण काययोग।

इस तरह आस्रव के जो कारण हैं, वही बंध के भी कारण हैं। सब अभेदों को मिलाकर 57 भेद आस्रव के या बंध के माने जाते हैं। इन 57 भेदों में प्रमाद के 15 भेद अलग से नहीं लेते कषायों में उनका अन्तर्भाव कर लेते हैं। ये संसार के कारण हैं। पहिले अध्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा था, तो उनसे उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के कारण यहां बताये है। बंध के जो 5 कारण मुख्य में दिखाये हैं, वे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप ही है। क्योंकि मिथ्यादर्शन में मिथ्याज्ञान का ही अन्तर्भाव होता है तथा अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, आदि ये सब मिथ्याचारित्र के भेद हैं। इस तरह सम्यग्दर्शन आदि के विषय में जो सूत्र प्रथम अध्याय में कहे गये हैं वे विपरीताभिनिवेशपूर्वक मिथ्यादर्शनादि में भी बन सकते हैं। यथा- मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः। तन्निसर्गादधिगमाद्वा (मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत भेद होने से) जीवाजीवास्रव बंधसंवर निर्जरा मोक्षास्तत्वं (इनका विपरीताभिनिवेशपूर्वक श्रद्धान की विपक्षा में) इसी तरह नाम स्थापना द्रव्य भावतस्तन्त्यासः, प्रमाणानयैरेधिमः, निदंशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः, सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च आदि।

जिस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता मोक्ष का कारण है इसी तरह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की एकता संसार का कारण है। सो ऐसे ही मिथ्यादर्शन के साथ में मिथ्याज्ञान तो रहता ही है और मिथ्याचारित्र भी रहता है। संसार में अनन्तानन्त कामार्ण वर्गणाएं भरी हुई हैं किन्तु उनका हमेशा हर एक के बन्ध नहीं होता, उनमें किन्हीं वर्गनाओं का बंध उस उस जीव के उस उस कषाय और योग के निमित्त से होता है जो उस जीव के बंध योग्य हैं। बंधयोग्य परिणाम 2 प्रकार का होता है- (1) उपयोगाधिष्ठित प्राकृतिक परिणाम, (2) उपयोगानधिष्ठित प्राकृतिक परिणाम। राग, द्वेष प्रकृतियों के उदय से होने वाला राग, द्वेष यदि उपयोग से अधिष्ठित है याने उपयोग इन रागादि भूमिकाओं में लगा है तो वह उपयोगाधिष्ठित प्राकृतिक परिणाम है इससे दृढ़ बन्ध होता है। रागादि प्रकृतियों के उदय में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वश रागादि तो हों, किन्तु उपयोग उनमें न जाय वह शुद्धस्वरूप के अभिमुख रहे तो वह उपयोगानधिष्ठित प्राकृतिक परिणाम है।

बन्ध का कारण स्नेह है, प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव है, बाह्य पदार्थ बन्ध का कारण नहीं है। जैसे कोई पहलवान लंगोट पहिन तेल लगाकर धूलभरे बाग में तलवार से केले, बांस आदि पेड़ों को काटकर व्यायाम करे तो उसके जो धूल चिपटनी है उसका कारण धूल भरा बाग, तलवार या तलवार का चलाना या पेड़ों का काटना नहीं है, क्योंकि बिना तेल लगाये अन्य कोई या वही इन्हीं समागमों में रहे, यही काम करे तब उसे तो धूल नहीं चिपकती है। इसी तरह कार्माण वर्गणाओं से भरे हुये संसार में मन वचन काय की प्रवृत्ति करने वाला व उस प्रवृत्ति से जीवों की विराधना हो तब भी उसके राग है तो

उस राग के कारण ही बन्ध होता है, संसार में भरे कार्माण वर्गणाओं से नहीं, क्योंकि सिद्ध भी तो लोकाकाश में ही हैं उनके तो कर्मबन्धन नहीं होता।

सिद्धालय में कार्माण वर्गणाओं के भरे रहने पर भी सिद्ध जीव उनसे अलिप्त ही रहते हैं, कषाय और योग का निमित्त नहीं होने से। केवल योग भी बन्ध का कारण नहीं है। अरहंत के कषाय न होने से योग रहते हुए भी वे निर्बन्ध हैं। जो प्रकृति और प्रदेश बन्ध 1 समय मात्र के लिये होता है वह अबंध दशा है, क्योंकि उसमें स्थिति और अनुभव बंध नहीं पड़ता। अरहंत के 12 समावर्ती, संख्यातों जीवों का समागम तथा छत्र, चमर, सिंहासन, परम सुन्दर शरीर तथा समवशरण का सारा वैभव, इन सबका संग रहते हुये भी कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि बाह्यवस्तु के संग से बंध का हिसाब नहीं है किन्तु भीतरी मूर्छाभाव से बंध की नियामकता है। कोई सोचे कि इसके इतना धन पैसा और वैभव है इसलिये इसके इतना बंध होता होगा, तो बात नहीं है। वनवासी, द्रव्यलिंगी, दिगम्बर मुनि के सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती से अधिक बंध होता है। बाह्य चेतन अचेतन पदार्थों की उपस्थिति बंध का कारण नहीं है। जैसे मुनि ईर्यासमिति में चले जा रहे हैं यदि कोई क्षुद्र प्राणी अकस्मात् उनके पगतले आकर मर जाय तो उनके उससे बंध नहीं होता। उन्हें जीवघात का दोष नहीं लगता। इसलिये सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है। क्योंकि संसार के कारणभूत अत्यन्त बलवान मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ वगैरह प्रकृतियों का उसके बंध नहीं होता। इसलिये रागादि जब उपयोग के साथ में हो तभी बंध होता है।

एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वह प्रत्येक पदार्थों की ऐसी प्रकृति है कि वे अन्य पदार्थ को निमित्त पाकर अपना परिणमन कर लेते हैं तथा अनेकों पदार्थ ऐसे हैं कि इसी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के कारण एक क्षेत्रावगाह में रहते हैं। वस्तुत: तो उपादान की परिणतिविशेषता ही बंध है व बंध का कारण है।

यह जगत् कितने बन्धन में फंसा हुआ है, अन्य के बंधन में नहीं, किन्तु अपने ही भाव के बंधन में। एक पुराणकथा प्रसिद्ध है कि एक बार एक गृहस्थ राजा जनक के पास आकर बोला- महाराज मुझे पुत्र स्त्री आदि ने फांस रक्खा है, कोई ऐसा उपाय बताइये कि मैं उनके जाल से बच जाऊं। जनक महाराज बोले तो कुछ नहीं, सामने खड़े हुये खम्भे को दोनों हाथों से जेठ में भरकर बोले कि ठहरो मैं तुम्हें जवाब दूंगा। मगर मुझे खम्भा ने जकड़ रक्खा है इससे परेशान हूं। खम्भा जब छोड़ता तब मैं जवाब देने लायक बनूंगा। यह सब देखकर वह गृहस्थ बोला कि महाराज मैं तो आपको ज्ञानी जानकर पूछ रहा था, किन्तु आप तो बड़े अज्ञान की बात कह रहे हो, खम्भा ने आपको पकड़ा है कि आपने खम्भा को ! जनक महाराज बोले ऐसी ही अज्ञान की बात तुम्हारी है कुटुम्ब ने तुमको पकड़ा है कि तुमने अपनी कल्पना से कुटुम्ब को पकड़ा है।

सत्यता तो यह है कि हमारी विभावदशा में मूल कारण हमारी भूल है। इसी भूल को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र कहते हैं।

बंध के कारणों को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र नाम से भी कह सकते थे। लेकिन यहां गुणस्थान की अपेक्षा, दिखाने को अविरति आदि भेदरूप कारण दिखाये। वे ऐसे कि- पहिले मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि पांचों कारण बंध के हैं। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व न होने से शेष चार बंध के कारण हैं। तीसरे और चौथे गुणस्थान में भी चार कारण हैं। पांचवें में त्रस अविरति के अतिरिक्त अन्य अविरति तथा प्रमाद कषाय और योग बंध के कारण हैं। प्रमत्त विरत में प्रमाद कषाय और योग ये 3 बंध के कारण हैं। अप्रमत्त, अध:करण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय में कषाय और योग ये दो ही बंध के कारण हैं। उपशांतमोह क्षीणमोह और सयोगकेवली में, योगजन्य केवल प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध है, वास्तव में बंध का अभाव है। अयोगकेवली के योग भी न होने से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध भी नहीं है। कर्म के बंध में मिथ्यात्वादि निमित्त हैं, कर्म है नैमित्तिक। भावकर्म में विशेषता होने पर बंध में विशेषता होती है। जहां कहीं भी पदार्थ के स्वभाव में विपरीतता होती है। वहां पर निमित्त अवश्य उसमें कारण होता है। जैसे ठंडे जल को गरम होने में अग्नि सूर्य आदि की निमित्तता होती है। यद्यपि जल का शीतस्पर्श निश्चय रूप भाव नहीं हो तथापि द्रष्टान्त में जल को द्रव्य व शीत को स्वभाव कहा। जीव की जो संसारी अनेक दशाएं बनती हैं वे उसके विभाव की दशाएं हैं इसलिये उनमें बाह्यकारण अवश्य है और वह है ज्ञानावरणादि कर्म। फिर भी कर्म रागादि परिणति नहीं करते, किन्तु ऐसा जीव ही कर्म को निमित्त पाकर रागादिक रूप परिणमता है। बंध दो तरह की प्रकृतियों का होता है। एक घातिया और दूसरा अघातिया। जो जीव के अनुजीवी गुणों को या भावों को घाते उसे घातिया कर्म कहते हैं और जो जीव के प्रतिजीवी गुणों को अर्थात् अभावात्मक गुणों को घाते या क्षेत्रकाल सम्बन्धी गुणों को घाते उसे अघातिया कर्म कहते हैं। अघातिया कर्म सर्वथा जीव के गुणों को नहीं घातते, ऐसा अर्थ नहीं लगाना, किन्तु वे घातिया कर्मों की सहायता के बिना जीव में विभाव बनने का साधन नहीं कर सकते, इसलिये अघातिया कर्म कहलाते हैं। जीव के भावों को घात करने वाला घातिया है और द्रव्य क्षेत्र काल को घातने वाले अर्थात् द्रव्यागत, क्षेत्रगत, कालगत अशुद्धता करने वाले अघातिया हैं। आयुकर्म अनादिकालीन जीव की पर्याय को घात करके सादि करता है इसलिये वह काल की अपेक्षा घात है। वेदनीय, नाम और गोत्र ये जीव के द्रव्यत्व और प्रदेशत्व गुण में विकार करते हैं, इसलिये ये क्षेत्र और द्रव्य अपेक्षा घातक हैं। फिर भी इनसे जीव के भावरूप गुणों का घात न होने से इन्हें अघातिया कहा जाता है।

जीव कर्म परमाणुओं को ग्रहण करता है, यह व्यावहारिक कथन है। जीव अपने में सिर्फ विकार कर सकता है। पुद्गल कर्मों को ग्रहण नहीं कर सकता है। आत्मा कर्मों का बंध करे यह आत्मा के वश की बात नहीं है। असल में वस्तुस्वरूप पर दृष्टि न देकर जीव जब कषाय सहित होता है तब कर्मों का बंध होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि बंध हो जावे किन्तु आत्मा में कषाय न होवे। ये भी नहीं हो सकता कि कषाय हो और कर्म का बंध नहीं हो तथा ये भी नहीं हो सकता कि कषाय बिना कर्मबंध हो जावे अन्य आत्मा कर्म का बंध करे। जैसे तख्त के सहारे मनुष्य बैठा है, पर तख्त ने मनुष्य को इस प्रकार बैठाया, या तख्त के कारण मनुष्य बैठा है ये कभी नहीं हो सकता है। अथवा किसी को गाली से क्रोध हुआ, पर

गाली ने नहीं कहा कि तुम क्रोध करो। पर गाली आदि के बिना क्रोध नहीं होता, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यद्यपि निमित्त के बिना कुछ होता नहीं है परन्तु निमित्त उस समय उपादान में कुछ करता भी नहीं है। गाली से गुस्सा आया, पर गाली ने नहीं कहा कि तुम क्रोध करो। किन्तु क्रोध करने वाले मनुष्य की ही ये विशेषता है, गाली की नहीं। यदि गाली क्रोध करावे तो सबको क्रोध होना चाहिये, सो देखा नहीं जाता है। गाली देने पर भी मुनियों को या अन्य सन्तपुरुषों को क्रोध नहीं आता है। क्रोधरूप परिणमन गाली का नहीं है, क्योंकि गाली देने वाला अपने चतुष्टय में परिणमन कर रहा है और सुनने वाला अपने में परिणमन कर रहा है। जब जीव कषायरूप होता है तभी कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणमन करती हैं, ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। कार्माण वर्गणाएँ इस लोक में अनंतानंत ठसी भरी पड़ी हैं तथा आत्मा के आसपास भी अनंत कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, जो संसारी जीव के साथ रहते हैं।

कार्माण शरीर और कर्म में भींत और ईंट जैसा अन्तर है। ये कर्म जीव के साथ अनादि काल परंपरा से चले आ रहे हैं। कर्मनाश के बिना इस जीव को आनंद नहीं मिल सकता है। पुण्य के नाश से दु:ख मिलता है और पाप के नाश से सुख मिलता है। इन दोनों के नाश से आनंद मिलता अर्थात् जिनका भाग्य फूट गया उनको अनंत आनंद प्राप्त होता है। इस पुण्य-पाप में हर्ष विषाद होना यही संसार में सबसे बड़ी दु:ख की बात है। जो पुण्य के समय मदहोश हो जाते हैं और पाप के समय बेहोश हो जाते हैं उनका कल्याण असम्भव है। किन्तु जो अपने को परम एकाकी पर से विमुख अनुभव करते हैं वही सच्चा आनन्द प्राप्त करते हैं।

कर्म के भोग से संसार नहीं बढ़ता किन्तु कर्म के राग से कर्म और संसार बढ़ता है। मिठाई खाने से अजीर्ण नहीं होता किन्तु अधिक खाने से अजीर्ण होता है। यह जीव को जो पर्याय मिली उसी को अपना रूप समझकर संसार बढ़ाता रहता है। कर्म तो यद्यपि सबने माना है, कोई ब्रह्मरूप में मानता है, कोई किसी रूप में मानता है आदि किन्तु कर्म क्या चीज है उसका सर्वतोमुखी विवेचन जैनसिद्धान्त में है। कर्मों का बंध 4 प्रकार का होता है। प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध।

प्रकृति बंध- जैसे कड़वी तूम्बी में यदि दूध डाल दिया जावे उस दूध में जो कड़वापन आ गया, वह तो प्रकृतिबंध है। तूम्बी और दूध मिलकर मिश्र स्वाद वाले बन गये, ये प्रदेशबंध हैं। जितने समय तक उसमें कड़वापन रहेगा वह स्थितिबंध है। उसमें हीन न अधिक कड़वापन आना, जैसी तूम्बी हो वैसा कड़वापन आना ये अनुभागबंध है।

परिणमन 3 तरह का होता है- एक विकाररूप परिणमन, दूसरा परिणमन व्यंजन (आकाररूप) परिणमन और तीसरा स्वभावरूप परिणमना। ये तीन तरह के परिणमन जीव और पुद्गल में होते हैं। उनमें से आकाररूप परिणमन से कोई बाधा नहीं। जैसे यह आत्मा मनुष्यरूप बन गया, वृक्षरूप बन गया, इस तरह आकार परिणमन से गुणों में कोई हानि नहीं। हां विकाररूप परिणमन से आत्मा में हानि होती है। जैसे आटा गूंद लिया और उसकी रोटी बनाई, इससे आटे के स्वभाव में, स्वाद में कोई अन्तर नहीं आया

किन्तु उसे जब आंच में सेक लिया जाता है तब बड़ा परिवर्तन हो जाता है। उत्पाद व्यय में जो विकार चलते हैं उससे ही हानि होती है। इसी विकार से कर्म भी दुरवस्था को प्राप्त होता हैं। देखो यदि चेतन की तरह कर्म भी सुख दु:ख अनुभव करते तो जीव और कर्म का झगड़ा जल्दी निपट जाता। पर कर्म तो जड़ हैं उन्हें अपनी कोई परवाह नहीं। जब तक जीव अपने ध्रुव स्वभाव का अनुभव नहीं करेगा तब तक यह जीव और कर्म का संबंध चलता रहेगा।

अज्ञानी जहां कर्म का कर्ता है वहां उसे फल का भोक्ता बनना पड़ता है। ज्ञानी न कर्मों का कर्ता है और न भोक्ता है। आत्मदृष्टि आने पर न तो कोई शत्रु और न कोई मित्र रहता है। एक सत्वेषु मैत्री की भावना जागृत हो जाती है। इस आत्मा का शरीर, परिवार, धन पैसा और कर्मों से भी कोई संबंध नहीं है। ये कर्म और आत्मा भी कभी मिलकर एक नहीं हो जाते। जब आत्मा से सभी अलग हैं, तब उन परवस्तुओं को अपनी चीज मानना सरासर चोरी है। अपने स्वभाव को देखो। ये बाह्य समागम तो जैसा आया वैसा चला जायगा।

एक चोर था। वह एक सुन्दर घोड़ा चुरा लाया, उसे बाजार में बेचने को गया। किसी ने पूछा कितने का है तो उसने बतलाया 800) का प्राय: बहुतों से कहा, परंतु किसी ने लिया नहीं। एक दूसरा चोर आया और घोड़े के दाम पूछे, तो उसने वही 800) रुपया बतलाये। ग्राहक चोर ने कहा- देखें तो तुम्हारा घोड़ा कैसा है? तब उसने अपना हुक्का घोड़े के मालिक चोर को पकड़ाया और आप घोड़े पर बैठकर छू हो गया। कुछ देर बाद पुराने ग्राहक आये उसने पूछा- कितने में बिका वह घोड़ा, तो चोर ने बताया जितने में आया था उतने में बिक गया। ग्राहक बोले- मुनाफे में कुछ नहीं मिला क्या। वह बोला- मुनाफे में यह हुक्का मिला है। इसी प्रकार बाह्य समागम जैसा आया वैसा चला जायगा, मुनाफे में कर्मबंध तुम्हें दे जायगा।

आजकल लोग धर्म का अर्थ पुण्य करने लगे हैं अथवा धर्म करने का अर्थ द्रव्य खर्च करना भी हो गया है। धर्म करो माने दान करो। धर्म करो माने पुण्यकार्य में पैसा खर्च करो। यह व्यवहारिक कथन है, किन्तु धर्म तो सहज शुद्ध अपने आत्मा की दृष्टि बिना नहीं होता। जो अपने चतुष्टय को समझ जाय और परचतुष्टय से अपने तो भिन्न समझने लगे, वहां ये पुण्यकार्य तो अपने आप होते हैं। ज्ञानी करता नहीं है।

मनुष्य परवस्तु का क्या त्याग कर सकता है ये तो अत्यन्त भिन्न है, ये तो परपदार्थों से राग द्वेष मोह त्याग कर सकता है। यही सच्चा त्याग है, जहां उसने परपदार्थों में स्वत्व को त्याग दिया वहां परपदार्थ तो अपने आप छूट जाते हैं। उन्हें वह क्या छोड़ेगा? आचार्यों ने शास्त्रों में भी मोह का बहुत वर्णन किया है, किन्तु वह सब उसका स्वरूप बताकर त्याग कराने के उद्देश्य से कथन किया गया है। देखो कर्म की व्यवस्था कैसी बन जाती है? बंध हुआ नहीं कि वहां सब यथायोग्य प्रकृतियों में बटवारा हो गया। जिस प्रकार भोजन किया तो बाहिर तो अपना कुछ भी कर्तव्य कर सकते हैं किन्तु भीतर पेट में भोजन गया कि वहां पर अपना कुछ भी कर्तव्य नहीं, फिर भी यथायोग्य भोजन का धातु उपधातुवों में बटवारा हो जाता है। वहां भीतर मनुष्य ये नहीं कर सकता कि अब इस भोजन से जल्दी रक्त बना ले, किन्तु जो जब

बनता है तभी बनता है। जीव का काम कषाय भर कर लेने का है। उसके बाद किस प्रकृति में कितना बटवारा होगा? यह जीव के वश की बात नहीं या यह बंधो या न बंधो यह वश की बात नहीं।

कर्मबंध से बचने के लिये अहंकार, आत्मीयता और ममकार का त्याग होना चाहिये, क्योंकि अहंकार तो मिथ्यादर्शन का, आत्मीय ता मिथ्याज्ञान का और ममकार मिथ्याचारित्र का भाव है। अहंकार और आत्मीयता का सम्बन्ध मिले हुये से हैं तथा ममकार का संबंध परवस्तु से है। आत्मीयता (कोई व्यवहार की अपेक्षा प्रयोग में) दो के लिये अभेदात्मक विचार है। जैसे यह अपना ही तो है यहां अपना कहकर एक कहने वाला और दूसरा सुनने वाला, इन दो को एक अभेद रूप कहने का अविवेक है। यही दो का एक रूप अभेदात्मक जो विचार है वह मिथ्याज्ञान है और ममकार में मिथ्याश्रद्धानपूर्वक बाह्यचरण की वृत्ति है इसलिये वह मिथ्याचारित्र रूप है।

मिथ्यादर्शनादि को दूर करने के लिये बाह्यसंस्कारों को दृढ़ दृढ़तर और दृढ़तम करना चाहिये। समाधिशतक में बताया है कि लौकिक कार्य करने ही पड़ें उनमें बाह्य अलिप्त बुद्धि से प्रवृत्ति करो। उनके संस्कार आत्मा पर स्थायी न बनें इसके लिये हमें अपना बाह्य आचार और विचार भी उत्तम बनाने की जरूरत है। ऐसा उत्तम जो हमारी निर्बलताओं और मिथ्यावासनाओं को निकालने में सहायक हो। अनादिकालीन परम्परागत हमारे मिथ्या संस्कार सुसंस्कारों में बदल जावें। विचारों को सात्विक बनाने के लिये आध्यात्मिक साहित्य का स्वाध्याय और मनन आवश्यक है और आचार को पवित्र बनाने के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करने की आवश्यकता है। यदि हमारे मस्तिष्क और शरीर दोनों की खुराकें सात्विक हों तो कोई वजह नहीं कि संसार की गंभीर समस्याओं को हम हल न कर लें और हमारे निज की आत्मा की बात समझमें ही न आवे। हम जैसा आहार करते हैं, उसका खून भी वैसा ही बनता है और उस खून से वैसा ही हड्डी और वीर्य तैयार होता है, याने शरीर का निर्माण भोजन से है। भोजन जैसा होगा, शारीरिक तत्त्व भी वैसे ही होंगे और शारीरिक स्थिति जैसी हमारे विचार भी वैसे ही बनेंगे, इसलिये कहावत चरितार्थ हो गई है कि 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी।' जो भोजन के विचारों में उपेक्षा दिखाते है और अभक्ष्य-भक्ष्य का भेद नहीं करते वे जबरदस्ती अपने विवेक पर पर्दा डालते हैं। वे शारीरिक और मानसिक शक्तियों के निर्माण और विकास को समझने में मानो अपनी असमर्थता, अक्षमता, अधैर्य और अज्ञान को प्रकट करते हैं। यह सीधी सी बात क्यों न समझ में आना चाहिये कि शरीर भोजन से बनता है और शरीर तथा आत्मा का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, तब भोजन के अनुसार शरीर और उसी के अनुरूप आत्मिक विचार होते हैं याने जैसा भोजन किया जाता है, उसका रसभाग खल भाग तथा आगे की खून आदि धातु उपधातुएं बनती रहती हैं। शरीर के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण जीव उसे अपने विभावों का आश्रय बना लेता है और जैसे आश्रय का उपयोग बनाता है वैसे कर्मों के बन्ध का साधन बन जाता है।

यहां एक आवश्यक बात जानने की यह है कि जीव को कर्मों के बन्ध विभाग आदि कार्य नहीं करने पड़ते हैं। जीव तो मात्र योग और कषाय करता है तब कर्मों का बन्ध व बटवारा आदि स्वयं हो जाता है।

जैसे मनुष्य को हड्डी मांस रुधिर मलमूत्र आदि बनाने को कुछ नहीं करना पड़ता है, वह तो मात्र भोजन कर लेता है। भोजन कर लेने पर उस भोजन का स्वयं परिणमन हो जाता है और इस विभाव के साथ कि कितना कितना अंश क्या क्या बनेगा? रुधिरादि बन जाने पर भी प्राकृतिक स्थिति भी है कि किस किस धातु की कितनी कितनी स्थिति रहेगी?

इसी तरह जीव तो मात्र अपने विभाव परिणाम करता है। उसको निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें कितनी और किस-किस रूप तथा कितनी स्थिति तक रहनेरूप परिणम जाती हैं यह सब बात स्वयं हो जाती है।

कषायवान् विकारी आत्मा जब कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करती है तब उनमें मुख्यत: 8 तरह का विभाग होता है, जिन्हें ज्ञानावरण आदि 8 कर्मों के नाम से पुकारा जाता है। उनमें भी किस विकार भाव से कौनसा कर्म अधिक प्रदेश लेकर आया और कौन कम, तथा कौन कर्म कितने समय तक कितना फल देगा? यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव की प्रकृतिकता के अनुसार होता है। इन 8 कर्मों के प्रभेद सैकड़ों हजारों और अनन्त हैं। जो हमारी आत्मा पर विभिन्न प्रकार के असर पैदा करने में निमित्त होते हैं, हमारी शक्तियों को विकारी और हीन बनाते हैं। इन कर्मों का असर इस वर्तमान पर्याय में तथा आगे की अनेकों पर्यायों तक चलता है। हमको मर कर अमुक योनि मिलती है, अमुक जाति मिलती है। सीमित आयु मिलती हैं। दरिद्रता या वैभव प्राप्त होता है। सुन्दर सुडौल शरीर मिलता है या कुरूप कुडौल, हम निर्बल होते हैं या बलवान, मूर्ख होते हैं या बुद्धिमान या ज्ञान कितने दर्जे का आदि सांसारिक हमारी तमाम दशाओं का निर्माण उन आठ कर्मों में होने वाले स्पर्द्धकों के निमित्त से होता है। इन कर्मों को दैव और भाग्य भी कहा जाता है, लेकिन वे कर्म दैव या भाग्य अपने आप आकर चिपटता हो या कोई ईश्वरीय दूत उसके बनाने में मदद देता है- यह बात नहीं है। प्राणी के स्वयं चाहे वह मनुष्य हो या पशु या और कोई तुच्छ कीड़ा मकौड़ा, सबकी अपनी श्रद्धा के अनुसार वह कर्म प्रतिक्षण बनता रहता है। इस कर्म का दैव के बन जाने का कोई खास समय नहीं है किन्तु प्रत्येक समय हमारी मानसिक, वाचिक और कायिक हरकतों के अनुरूप वह प्रतिक्षण बनता रहता है। एक समय में पहिले के कितने ही कर्मों का, कितने ही विभिन्न प्रकार के कर्मों का असर आत्मा पर एक साथ हो सकता है। ऐसी विचित्र दशा में लोग भगवान् की करामात का स्वप्न देखते हैं कि धन्य है ईश्वर की लीला को, उसका पार कोई नहीं पा सकता। लेकिन मोही प्राणी यह नहीं समझता कि प्रत्येक जीव की जो कुछ भी अवस्था है वह उसके कृतकर्मों के अनुसार है। जैसी उसने क्रियाएं की हैं वैसे ही कर्म उसके बने हैं, जिनका फल वह स्वयं भुगतता रहता है। हमारी चहुँमुखी जो भी अवस्था है वह हम सारे ही कृत्यों का फल है, अच्छा या बुरा या कई बातों के एक साथ विचार करने पर अच्छा या बुरा दोनों एक साथ। ईश्वर को पचड़े में डालने वाले भाइयों ! ईश्वर को पचड़े में न डालकर उसे अनन्तसुखी रहने दो।

प्रत्येक जीव की स्वतन्त्रता इतनी अकाटय है कि उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। जो व्यर्थ ही ऐसा करने की चेष्टा करते हैं वे अपनी स्वतन्त्रता, शक्ति और विवेक स्वयं ही दूसरों के हाथों में सौंपने की

धृष्टता करते हैं। फिर भी प्राकृतिक नियम तो नष्ट नहीं होता, प्राणी अपनी इच्छानुसार कल्पनाएं कैसी भी कर सकता है। जो ईश्वर को हमारे कर्तव्य व भोक्तृव्य में बीच में लाते हैं, वे अपने ही ईश्वर को समझें जो हमारे शरीर में बैठा है और जिसमें ये कल्पनाएं उठती हैं, वहीं हमारा ईश्वर, महान् शक्तिशाली भूल से तुच्छ कर्मों में फंसा हुआ अपनी विडरूप दशाएं बनाता रहता है, लेकिन भूल से मोहवश उसकी जवाबदारी दूसरों पर डाल देता है। चूंकि अपनी भूल को न समझ कबूल न कर दूसरों पर उस भूल को, दोष को मढ़ने का जीव का स्वभाव सा बन गया है, लेकिन उसकी भूल से संसार तो नहीं बदल जायगा।

वीतरागी, कृतकृत्य, परमात्मा उसके या दुनिया के कर्ता धर्ता तो न बन जावेंगे। दु:ख से छूटने के लिये, वह दु:ख किसका है कैसे है क्या है? उससे बचने का उपाय क्या है। इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में जब हम निश्चय करेंगे कि हमारी कल्पना से ही यह जाल पैदा होता है, व उससे बचने का उपाय हममें ही है। तब यह भी स्पष्ट हो जायगा कि हमने भूल से अपने को बाह्य पदार्थों में देखा, हमने अपनी चैतन्य शक्ति को जड़ के समान समझा और जड़ में चेतनता का भ्रम किया। हम अपनी भूल से ही कर्म और शरीर के बन्धन में आये, यदि हम चाहें तो इस बंधन को तोड़ भी सकते हैं और चैतन्य प्रभु को प्रकट कर सकते हैं, जो कि शाश्वत, शक्तिमान्, सुखी और सर्वज्ञाता है।

ऐसी समझ आना सबके लिये सुलभ नहीं, जिसको यह आवे वह महान् सुभवित्वशाली है, और भविष्य नैगमनय की अपेक्षा परमात्मा के महान् पूज्य है, क्योंकि ऐसा जीव कर्मबंधन से छूट संसारमुक्त या परमात्मा बनने के सम्मुख है, उसके लिये कोई भी शक्ति फिर उसे बन्धन में रखने को समर्थ न हो सकेगी। मुमुक्षु अपने चैतन्य चित्स्वभाव की प्रभुता को व्यापकता को देखकर महान् संतोष और धैर्यपूर्वक अपने मार्ग में और मोक्षमार्ग में बढ़ता जाता है। हम सब अपने उस चैतन्य प्रभु की प्रभुता को पहिचानें और उसकी क्या लीला हो रही है, इसको मद्देनजर रख, उसे स्वतन्त्र करने की चेष्टा में लगे रहें, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना में लगे रहें तो नियम से वह मैं भगवान् रूप में प्रकट हो जायगा ।।इति।।

ॐ शान्ति

तत्त्वार्थ नवम प्रथमसूत्र प्रवचन

''आस्रवनिरोध: संवर:''

आस्रव का रुकना सो संवर है। संवर का इतना अधिक महत्त्व है कि वह सिद्धों में अनन्तकाल तक रहता है, जबकि निर्जरा का वहां अभाव है। कहते हैं ''कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जै ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति हैं सहज टरे ते''। अर्थात् अज्ञानी के जो कर्म करोड़ों जन्मों की तपस्या से (बिना संवर के अनेक आस्रव होते हुए) फल भुगताकर नष्ट हो होते हैं, ज्ञानी के वे कर्म क्षण मात्र में बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते हैं। अज्ञानी के संवर होता ही नहीं और ज्ञानी तो एक मुहूर्त के भीतर मिथ्यात्व को नष्ट कर मुनि अवस्था प्राप्त कर लेता है और यहां तक कि क्षपकश्रेणी का आरोहण कर केवली और सिद्ध तक बन सकता है। यदि नाव में छेद होने से उसमें पानी आना प्रारम्भ हो गया हो तो वह डूबने न पावे, इसके लिये जरूरी है कि उसका छेद बन्द कर दिया जावे और फिर भरे हुये पानी को भी अलग कर नाव को हल्की बना ली जाय ताकि वह डूबने से बच जाय। इसी तरह जीव कर्मों के आगमन से संसार में (निगोद में) डूबने के (भटकने के) उन्मुख है, (क्योंकि त्रस पर्याय कुछ अधिक दो हजार सागर मात्र है पश्चात् अनन्त काल के लिये स्थावर व निगोद में जीव को जाना ही पड़ता है) तो उसे संसार से पार लगाने के लिये कर्मों का आगमन रोक देना पहिला काम है। पश्चात् आये हुये कर्मों को दूर दूर करके (निर्जरा करके) आत्मा को हल्का बनाया जाय, कर्म-भार से रहित किया जाय तो वह संसार समुद्र से अवश्य पार हो जायगा। लेकिन इस संवर के लिये पहिले पहल शुद्धोपयोग का परिचय होना, सम्यग्दर्शन होना जरूरी है, बिना इसके संवर नहीं होता। अशुद्ध उपयोग के 2 भेद हैं- (1) अशुभ उपयोग (2) शुभ उपयोग। अशुभ उपयोग से अशुभ आस्रव होता है और शुभ उपयोग से शुभास्रव होता है। किन्तु शुद्धोपयोग से किसी भी तरह का आस्रव नहीं, संवर ही होता है। शुद्धउपयोग से संवर होता है, उसके समझने के लिये हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि क्या हम आँख को बन्द कर लें तो देख सकते हैं तो उत्तर होगा देख सकते हैं। उसमें भी पूछा जाय कि दाहिनी आँख को बन्द कर लें तो बाई आँख से देख सकते हैं, उत्तर होगा हां देख सकते हैं। फिर पूछा जाय की बांई आँख को बन्द कर लें तो दाहिनी से देख सकते है क्या उत्तर होगा, जरूर देख सकते है। फिर पूछा जाय कि दोनों आंखों को बन्द कर लें तो देख सकते हैं। उत्तर होगा, हां देख सकते हैं। सो वैसे भी आगम में केवल आँख से देखने को ही देखना नहीं कहा है बल्कि बाकी 4 इन्द्रियों से भी उनके द्वारा ज्ञान होने के पहिले जो प्रतिभास होता है उसे भी देखना कहा है और आगम की दृष्टि से तो सामान्य चित्प्रतिभास को ही दर्शन कहा है जो कि इन्द्रियों से नहीं हो सकता है और इस लक्षण से जिसे लोग साधारण तौर पर देखना कहते हैं वह तो चाक्षुप ज्ञान है, दर्शन नहीं। अच्छा तो देखने की 4 अवस्थाएं हुई। दो आंखों में से क्रमश: (1) केवल दाहिनी आँख से, (2) केवल बाई आँख से। (3) दोनों आंखों से और (4) दोनों आंखों को बन्द करके

भी। इसी तरह पदार्थज्ञान के भी 4 तरीके हैं- (1) व्यवहारनय के द्वारा पदार्थ ज्ञान करना, (2) निश्चयनय के द्वारा पदार्थ जानना, (3) दोनों नयों का अन्तर्भाव जिसमें है ऐसे प्रमाण के द्वारा पदार्थ को जानना और इन प्रमाण और नय विकल्पों से रहित निर्विकल्प होकर चित्प्रतिभास करना। तो संवर ऐसे ही निर्विकल्प ज्ञान में जिससे कि शरीर, मान, प्रतिष्ठा और गृह सम्बन्ध आदि के कोई भी विकल्प नहीं होते और केवल आत्मा की ही अनुभूति होती है, ऐसी शुद्धोपयोग की दशा ही संवर का कारण है। जहां पर्याय की दृष्टि नहीं, पृथक् गुणों की दृष्टि नहीं, मात्र अभेद द्रव्य का अनुभवन है व उसकी योग्यता है, ऐसे शुद्ध विकास से संवर होता है। संवर के लिये आवश्यक शुद्धोपयोग को समझने के लिये उसके द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर विचार करें। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य क्षेत्र काल और भावस्वरूप होता है। जैसे जीव में घटावें तो कहा जायगा कि जीव एक अखण्ड द्रव्य अपने प्रदेशों के आकार वाला, अपनी शुद्ध या अशुद्ध परिणति दशा में रहने वाला जीवत्व शक्ति से युक्त है। इन 4 वाक्यों द्वारा प्रदर्शित 4 विशेषणों में उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दिखाया गया है। शरीर में द्रव्य क्षेत्र काल भाव को घटावें तो कहेंगे कि शरीर पिंड जो पुद्गल स्कंध है वह द्रव्य है, वह शरीर जिस आकार में है वह उसका क्षेत्र है उसकी वर्तमान में जो अवस्था है वह उसका काल है, उसमें जो रूप रस गन्धादि की शक्ति है उसका भाव है। इसी तरह कर्म में भी घटा सकते हैं- यथा कर्म का पिंड है वह द्रव्य है, वह जितने स्थान में रहता है वह उसका क्षेत्र है, सामान्य पुद्गल से जो कर्मरूप पर्याय हुये हैं वह उसका काल है, और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित जो कर्मत्व शक्ति उसमें है वह उसका भाव है।

अब जीव के बारे में उसे स्पष्ट विचारें- वर्तमान में शरीरबद्ध होने पर भी जीव पुद्गल से भिन्न जीवत्वशक्तियुक्त एक द्रव्य है, वह अपने असंख्यात प्रदेशों वाला है। (उन प्रदेशों का जो आकार हो सकता है वही उसका क्षेत्र है) अपने प्रदेशाकार है। वह संसारी अवस्था में रागद्वेष दशा वाला है (काल के विचार से) और अनन्त शक्तियों से युक्त चित्प्रतिभास स्वरूप है।

अब इनमें द्रव्य क्षेत्र और काल व भेदरूप भाव की जो दृष्टि है, वह विकल्प वाली दृष्टि है और अभेद भाव की जो दृष्टि है वह निर्विकल्प दृष्टि है। इसी निर्विकल्प दशा में शुद्धोपयोग होता है, या कहिये यही निर्विकल्प दशा शुद्धोपयोग है और इसी अवस्था में संवर होता है। जब तक यह भाव की दशा, शुद्धोपयोग की दशा थोड़े समय के लिये भी प्राप्त नहीं होती तब तक निश्चय की दृष्टि में वह जैन कहलाने के योग्य नहीं है। जब स्वरूप का ज्ञान होता है और चौथा गुणस्थान होता है तभी वह जिन कहलाने लगता है, और तभी उसको जैन भी कहा जाना चाहिये। अरहंत परमेष्ठी जिनेन्द्र कहलाते हैं और चौथे गुणस्थान से लेकर 12 वें गुणस्थानवर्ती तक के जीवों को जिन कहते हैं। तो यह जिनपना या जिनेन्द्रपना सम्यक् रुचि आने पर प्रगट होता है।

कई लोग जीवत्व के विषय में 3 भेद करते हैं- 1- जीवात्मा, 2- मुक्तात्मा और 3- परमात्मा। इनमें जिन्हें हम संसारीजीव कहते हैं उन्हें जीवात्मा और वे ही जब मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं तब उन्हें मुक्तात्मा

और एक सर्वशक्तिमान चैतन्य शक्ति को परमात्मा कहते हैं। अब जैन धर्म से हम यदि मिलान करें तो योग्य दृष्टि में 3 रूप जीवद्रव्य के उसमें भी हैं।

जीवात्मा तो संसारी जीव का पर्यायवाची हुआ और उस संसार जीवराशि में से जो कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, वे मुक्तात्मा या सिद्ध कहलाये जो कि अनंत होते हैं। दूसरे भी मुक्तात्माओं को अनन्त मानते हैं। अब रही एक अखण्ड सर्वव्यापक चैतन्य प्रतिभासरूप ईश्वर की बात, सो पहिले कही गई (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) 4 दृष्टियों में से भावदृष्टि द्वारा विचारें तो वह चैतन्य प्रतिभास अखण्ड और एक रूप दिखेगा सामान्य चित्प्रतिभास में उसका आकार प्रकार तथा भेद वाली दशा नजर न आवेगी। हां वह सारे लोक में व्यापक न होकर अपने आपमें सर्वव्यापक है, लेकिन चित् प्रतिभास में उसका भी सीमित प्रतिभास नजर नहीं आता। व्यक्तिरूप विकल्प करके भेदरूप प्रतिभास उसमें नहीं है, उसमें अभेद चित्प्रतिभास है। इस तरह जीवद्रव्य को दूसरे लोगों द्वारा मानी गई पद्धति से भावपेक्षया सामान्य कथन हुआ। अब यदि हम उस जीव द्रव्य को क्षेत्र की अपेक्षा से विचारेंगे तो उसके आकार प्रकार का विचार होगा। काल की अपेक्षा से विचारेंगे तो वह संसारी अवस्थारूप- राग द्वेषादि विकारी अवस्था रूप देखेगा या अविकारी अवस्थारूप भी देखेगा। उसमें गुणस्थान आदि की अवस्था का भी विचार होगा, लेकिन भाव की दृष्टि लगाने पर एक सामान्य चैतन्यमात्र मालूम होता है। भावदृष्टि में उसके आकार प्रकार गुणस्थान आदि रूप विकल्प नहीं होते। उस भाव से गृहीत चैतन्य प्रतिभास के लिये कल्पित ईश्वर मान लें तो ईश्वर को जो सृष्टि का कर्ता कहा जाता है वह भी परिमयिता की अपेक्षा से बनता है, वह चिद्भावरूप जीव चारों गतियों का निर्माण करता है। चार गति का निर्माण उससे ही होता है। गति का निर्माण अजीव का कार्य नहीं है। यदि जीव न हो तो शरीराविष्ट पर्याय कैसे होगी? नहीं होगी। तो हमारी सृष्टि का कारण हमारी आत्मा हुई या नहीं। भेद अपेक्षा अवश्य है। इस तरह जीव के विषय में भाव की अपेक्षा विचार किया जाय तो उससे जो निर्विकल्प प्रतिभास होगा वह दशा संवर का कारण होगी, यह दशा चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। सातिशय मिथ्यादृष्टि का सबसे ज्यादा कर्म विजय होता है, जो कर्म अनंत संसार के कारण थे, जिनसे अनंतकाल तक भटकना था, जिन्हें विजय नहीं कर पाने पर अनंत काल तक रुलना पड़ता अथवा जो हमारे अनंत दु:खों के कारण हैं, ऐसे मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु आदि कर्मों को जीत लेता है। यह जीव का बड़ा पुरुषार्थ है, अत: उसको यही से जिनसंज्ञा मिल जाती है। क्योंकि कर्मों को जीतने वाले को जिन कहते हैं। जिन बनना जीव के महान् पुरुषार्थ का फल है। वस्तु को (1) तत्त्व, (2) द्रव्य, (3) अस्तिकाय और (4) पदार्थ- इन चार प्रकारों से कहते हैं। अब प्रश्न होता है कि जो तत्त्व है वह द्रव्य है या नहीं। उत्तर होगा- है भी और नहीं भी है। जैसे- लाउडस्पीकर का माइक्रो वर्तमान में पिंडरूप है और उस शकल में है, वह सफेद है तो विचारो कि ये सब भेद उससे अलग अलग हैं या अभिन्न। तो उत्तर होगा- ये भिन्न भी हैं और इनकी अभिन्नता भी है। दूसरा उदाहरण लीजिये- जैसे एक आम मीठा, नरम और सुगंध गंध वाला है, लेकिन ऐसा भेददृष्टि होने पर ही कह सकते हैं, अभेद दृष्टि में भेद नहीं होंगे। दृष्टि की अपेक्षा से वस्तु के ज्ञान में विभिन्नता हो जाया करती है। अब हम जीव को (1)

द्रव्य (2) क्षेत्र (3) काल और (4) भाव में क्रमश: लगावें तो उनमें (1) पदार्थ (2) अस्तिकाय (3) द्रव्य और (4) तत्त्व नाम से व्यवहार कर सकते हैं, उनमें भी (1) पिंड (2) आकार (3) पर्याय और (4) गुण की प्रधानता से 4 तरह कह सकते हैं। इस तरह 4 प्रकारों में भाव की दृष्टि संवर के लिये कारण पड़ती है। तिर्यञ्च के भी चित्प्रतिभास का भाव हो सकता है, उसके भी अपने भाव की भासना हो सकती है और आंशिक शुद्धोपयोगी बन संवर का पात्र हो सकता है।

सर्वप्रथम संवर चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। चौथे से गिरती अवस्था में दूसरे अथवा तीसरे गुणस्थान में भी संवर होता है। दूसरे गुणस्थान में 16 प्रकृतियों का संवर करता है। वे प्रकृतियां इस प्रकार हैं- 1 मिथ्यात्व, 2 हुंडस्थान, 3 नपुसंकवेद, 4 असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, 5 एकेन्द्रियजाति, 6 स्थावर, 7 आतप, 8 सूक्ष्म, 9 अपर्याप्ति, 10 साधारण, 11 द्वीन्द्रिय जाति, 12 त्रीन्द्रिय जाति, 13 चतुरिन्द्रिय जाति, 14 नरकायु, 15 नरकगति और 16 नरकगत्यानुपूर्वी। तीसरे गुणस्थान में 25 प्रकृतियों का संवर होता है। वे इस प्रकार हैं- 1 निद्रानिद्रा, 2 प्रचला प्रचला, 3 स्त्यानगृद्धि, 4 अनंतानुबंधीक्रोध, 5 अनंतानुबंधीमान, 6 अनंतानुबंधीमाया, 7 अनंतानुबंधी लोभ, 8 स्त्रीवेद, 9 तिर्यग्आयु, 10 तिर्यग्गति 11, 12, 13, 14 संस्थान चार (पहिला छोड़कर) 15=18 संहनन चार (पहिला छोड़कर), 19 तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, 20 उद्योत, 21 अप्रशस्त विहायोगति, 22 दुर्भग, 23 दुस्वर, 24 अनादेय और 25 नीचगोत्र। चौथे गुणस्थान में पूर्वोक्त 41 प्रकृतियों का संवर होता है। पांचवें गुणस्थान में अन्य 10 प्रकृतियों का भी संवर होता है। वे इस प्रकार हैं- 1-4 अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, 5 मनुष्य आयु, 6 मनुष्यगति, 7 औदारिक शरीर, 8 औदारिक अंगोपांग, 9 वज्रवृषभनाराच+संहनन और 10 मनुष्यगत्यानुपूर्वी। छठवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चार प्रकृतियों का भी संवर होता है। छठवें प्रमत्त गुणस्थान में 1 असातावेदनीय, 2 अरति, 3 शोक, 4 अस्थिर, 5 अशुभ और अयशकीर्ति- इन 6 का संवर होता है। सातवें गुणस्थान में 1 देवायु का भी संवर होता है। अपूर्वकरण गुणस्थान में इन 36 प्रकृतियों का भी संवर होता है। वे इस प्रकार हैं- 1 निद्रा, 2 प्रचला, 3 देवगति, 4 पंचेन्द्रिय जाति, 5 वैक्रियक शरीर, 6 आहारक शरीर, 7 तैजसशरीर और 8 कामार्णशरीर, 9 समचतुरसंस्थात, 10 वैक्रियकआंगोपांग, 11 आहारकआंगोपांग, 12-15 रूप, रस, गंध और स्पर्श, 16 देवत्यानुपूर्वी, 17 अगुरुलघु, 18 उपघात, 19 परघात, 20 उच्छ्वास, 21 प्रशस्त विहायोगति, 22 त्रस, 23 वादर, 24 पर्याप्त, 25 प्रत्येक शरीर, 26 स्थिर, 27 शुभ, 28 सुभग, 29 सुस्वर, 30 आदेय, 31 निर्माण और 32 तीर्थंकर तथा 33 हास्य, 34 रति, 35 भय और 36 जुगुप्सा। नवें गुणस्थान में इन 5 प्रकृतियों का भी संवर हो चुकता है वे इस प्रकार हैं- 1 पुंवेद और 1-5 संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ। दसवें गुणस्थान में ज्ञानावरण की 5, दर्शनावरण का अवशिष्ट 4, यशकीर्ति उच्चगोत्र तथा अंतराय की 5, इस तरह इन 16 प्रकृतियों का भी संवर हो जाता है और 11 वें, 12 वें व 13 वें गुणस्थान में सातावेदनीय का भी संवर होता है। इस तरह गुणस्थान क्रम से संवर बढ़ता रहता है। देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना, दान देना, दया पालना, परोपकार करना, व्रत नियम पालना, अनशनादि तप तपना आदि कार्य पुण्य बंध

करने वाले हैं, इनसे संवर नहीं होता। इनके होते हुये जो स्वभावावलंबन है उससे संवर होता है। संवर का कारण तो है एक शुद्धोपयोग की दशा। यद्यपि गुप्ति, समिति, विकल्प रूप, दशा, धर्म, अनुपेक्षा, परिपहजय आदि को संवर का कारण कहा है, लेकिन इनके द्वारा जो निर्विकल्प चित्प्रतिभास होता है वह संवर का साक्षात् कारण है।

जीव के एक समय में एक ही भाव होता है, किन्तु उसमें शक्तियां अनेक हैं। एक ही समय में संवर होता है और आस्रव भी। जितने अंश में वीतरागता होती है उतने अंश में संवर होता है और जितने अंश में सरागता रहती है उतने अंश में आस्रव होता है। जैसे- चौकी के ऊपर इस माइक के पूरे डण्डे में जिसका कि 1 हाथ का अन्तर है आप दृष्टान्तरूप में विचारें, चौकी पर तो पूर्ण राग का अंश समझो और इसके ऊपर राग क्रमश: घटता घटता ऊपरी भाग पर पूर्ण वीतरागता का स्थान विचारें। अब इसके जो मध्य के भाग हैं वे मध्य के परिणाम हैं, वे वीतरागता और राग दोनों के द्वारा रचे गये हैं। अर्थात् जितना वह परिणाम नीचे से ऊपर को उठा हुआ है उतनी तो वीतरागता याने राग का अभाव है और जितना ऊपर से नीचे है उतना राग का सद्भाव है। परिणाम वह ऐसा है कि अंशिक वीतरागता और अंशिक राग दोनों से निर्मित है। उस भाव की मूलभूत जो वीतराग शक्ति है उससे तो संवर है और जो राग है उससे आस्रव है। आस्रव के साथ बंध भी है और संवर के साथ निर्जरा भी है। इस तरह एक ही समय के भाव में चारों हो रहे हैं। परन्तु उन चारों की स्रोत शक्तियां जुदी जुदी हैं। ऐसे स्थानों में जो वर्तना है वह तो शुभापयोगी है, किन्तु उसका लक्ष्य शुद्ध है तथा शुद्धता के अंश याने अविभाग प्रतिच्छेद अधिक हैं, अत: शुद्धोपयोग की प्रधानता है।

संवर का कारण शुद्ध उपयोग है, अन्य दूसरा कोई नहीं। संवर एक ही तरह का होता है और वह होता है शुद्धोपयोग से। ये गुप्ति, समिति वगैरह तो शुद्धोपयोग के होने पर हो जाती हैं, इन्हें पालना नहीं पड़ता है, बल्कि स्वदृष्टि आने पर संवर गुप्ति से होता है, समिति आदि से भी होता है। जहां विकल्प न हो उसे गुप्ति कहते हैं। रागादि का न होना संवर है। जो आते थे उनका रुकना संवर है। आत्मा अपने विकारों को ही रोक सकता है, कर्मों को नहीं रोक सकता है। विकार रुक जाने पर कर्म तो अपने आप रुक जाते हैं। बंध कहां रुकता है? बंध का रुकना या संवर सातिशय मिथ्यादृष्टि प्रारम्भ करता है, या उसे संवर न कहकर बंधापसरण कहते हैं। जीव का उद्धार संवर से होता है। सम्यक्त्व के सन्मुख सातिशय मिथ्यादृष्टि सबसे पहले सम्यक्त्व होने में साधक क्षयोपशमलब्धि प्राप्त करके बहुत ही कर्म प्रकृतियों का क्षयोपशम करता है। इस क्षयोपशम के हो जाने पर परिणामों में अपने आप विशुद्धता बढ़ती है। कर्मों की शिथिलता क्षयोपशम लब्धि है और उसी क्षयोपशम से विशुद्धता बढ़ती है। उसके बाद गुरु के उपदेश का निमित्त मिल जाने पर उसकी धारणा होती है, पश्चात् प्रायोग्यलब्धि प्राप्त करके समस्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अत: कोटाकोटीसागर प्रमाण रह जाती है। तब करणलब्धि प्राप्त करके जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। करणलब्धि उसे ही होती है जिसके होने पर सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र प्राप्त होता है। सातिशय मिथ्यादृष्टि के जितनी प्रकृतियों का बंध रुका उनमें से कुछ का बंध चौथे गुणस्थान से होने लगता है। तीसरा गुणस्थान

भी उसे ही होता है। जिसे चौथा हो चुकता है। संवर चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है। निज स्वभाव के अवलम्बन की महिमा अपार है। स्वरूपदृष्टि संसार की सब आपत्तियों से बचाती है जितने भी जिन हुये हैं; चाहे वे 4 के गुणस्थान के हों, चाहे श्रेणी मांड़ने वाले जीव हों, चाहे अरहंत सिद्ध जिनेन्द्र हो; इन सबका एक ही काम है, अपने स्वभाव के अवलम्बन का। जो विभावों को जीते सो जिन कहलाता है। उसी स्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय बनती है उसे जिनेन्द्र कहते हैं। ज्ञानी ज्ञान को देखता है। ज्ञानी राग में राग नहीं करता है। सम्यक्दृष्टि की धारा देखो, किसी के एक ओर तो राग भी चल रहा है तो एक ओर विराग भाव भी चल रहा है, एक ओर कर्मों की निर्जरा हो रही है तो एक ओर पुण्यबंध और पापबंध भी चल रहा है। उसी समय धर्म चल रहा है तो दूसरी ओर भक्ति दान आदि से पुण्य बंध भी चल रहा है। उसके एक परिणमन से पुण्य और पाप तथा निर्जरा ये तीनों चल रहे हैं। यदि अविरत सम्यग्दृष्टि के धर्म या निर्जरा न मानी जाय तो 41 प्रकृतियों का संवर कैसे चल सकता था?

देखो रामचन्द्र सम्यग्दृष्टि थे किन्तु लक्ष्मण के शव के लिये पागल की तरह फिरते रहे, किन्तु उस अवस्था में भी उनके 41 प्रकृतियों का संवर चल रहा था, धर्म हो रहा था। जिसकी स्वभावदृष्टि नहीं वह कितनी भी भक्ति, स्वाध्याय, दान और तप वगैरह करता रहे किन्तु उसे पुण्य पाप का बंध ही हो सकता है, उसके निर्जरा कभी नहीं हो सकती है।

जिसे स्वभाव की दृष्टि मिली उस ज्ञानी को सब कुछ मिल गया। अपने आत्मवैभव के आगे संसार के सब वैभव तुच्छ हैं। एक राजा जब परदेश को जाने लगा तो उसने सब रानियों के पास खबर भेजी कि जिसे जो कुछ चाहिये, सो अपने अपने कागज में लिखकर मेरे पास भेज दें। सब रानियों ने अपनी अपनी इच्छित वस्तुओं को लिख भेजा, किंतु छोटी रानी ने एक कोरा कागज भेज दिया। उस पर कुछ भी नहीं लिखा, सिर्फ 1 का अंक लिख दिया। वहां जाकर राजा ने सबके कागज देखे और जिसने जो मंगाया था, वह सब ले लिया। अब छोटी रानी के कागज को देखा तो उसमें कुछ भी नहीं लिखा था, तब मंत्रि से राजा ने पूछा- मंत्रि जी ! छोटी रानी ने तो कुछ भी नहीं लिखा, इसे क्या ले जाना चाहिये? तब मंत्रि ने समझाया कि इस रानी को कुछ नहीं चाहिये, उसे सिर्फ 1 आप राजा चाहिये। राजा ने लौटकर जिसने जो सामान मंगाया था उस रानी के पास सब सामान भेज दिया और छोटी रानी के पास आप स्वयं पहुँच गये और रानी से पूछा- तुमने कुछ भी नहीं मंगाया? तब रानी ने कहा- मुझे आप मिल गये तो सब मिल गया।

इसी प्रकार एक अपना असली रूप मिल गया तो सब मिल गया। व्यवहार से तुम्हें नरक और स्वर्ग तो मिल जायेंगे पर सच्चा सुख कहीं नहीं मिल सकता है। बड़े सौभाग्य से मनुष्य पर्याय, जैन धर्म और सत्समागम मिला है तो इसका महत्व समझो।

सम्यग्दृष्टि एक अनादि अनंत, असाधारण, ज्ञान स्वभाव को उपादान करके केवल ज्ञान रूप परिणमन करते रहते हैं। आत्मा का स्वभाव केवलज्ञानी नहीं, केवल ज्ञानरूप है। चौथे गुणस्थान वाला क्या करता है? मति, श्रुत, ज्ञान रूप होकर एक ज्ञान स्वभाव रूप परिणमते रहते हैं। मोक्षमार्ग बनाने से नहीं बनता, बिना

बनाये भी नहीं बनता है। फिर वह होता है। क्रोध भी कोई करता नहीं कि मैं आज क्रोध ही क्रोध करूंगा, पर जैसा निमित्त मिलता है वैसा क्रोध हो जाता है।

शंका- यदि अपने आप क्रोध होता है फिर उसे हटाने के उपदेश वगैरह की क्या आवश्यकता है?

समाधान- जैसा निमित्त मिलने पर क्रोध हो जाता है उसी प्रकार निमित्त उपदेश को पाकर उसमें सुधार भी तो हो जाता है। मैं करता हूं और मेरे द्वारा हुआ, इन दोनों कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य वाक्यों में बड़ा अन्तर है।

कर्तृवाच्य में कर्तापना आ जाता है और कर्मवाच्य में कार्य होता है, पर उसमें कर्तापना का अहंकार नहीं है।

ज्ञानी के द्वारा इसी प्रकार पुण्य पाप के कार्य होते रहते हैं वह उनका कर्ता नहीं होता है।

कर्मसम्बन्ध ही दु:ख का निमित्त कारण है। यदि इससे मुक्ति चाहते हो तो स्वरूप ध्रुव निज चैतन्य स्वभाव का आश्रय करो।

ॐ शान्ति

तत्त्वार्थ दशम प्रथमसूत्र प्रवचन

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक साथ क्षय होने पर केवलज्ञान होता है। सूत्र के मोह को पहिले कहा और उसमें भी क्षयात् शब्द अलग से जोड़ कर उस पद को अलग बनाया, उसका प्रयोजन है कि सबसे पहिले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोहनीय के क्षय का क्रम ऐसा है कि उपशमसम्यग्दृष्टि जब क्षयोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है तब उसके पश्चात् चौथे, पांचवें, छठवें और सातवें गुणस्थान से किसी भी गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की 3 और चारित्रमोहनीय की 4 ऐसी- 1 मिथ्यात्व, 2 सम्यक्मिथ्यात्व और 3 सम्यक् प्रकृति तथा 4 अनंतानुबन्धी क्रोध, 5 अनंतानुबन्धीमान, 6 अनंतानुबन्धीमाया और 7 अनंतानुबन्धी लोभ ऐसी, 7 प्रकृतियों का क्षय करता है। तब यदि उपशम श्रेणी माड़ता है तो उपशमक बन नियम से श्रेणी से गिरता है और चारित्र मोह का काल प्राप्त होने पर सातिशय अप्रमत्त को प्राप्त कर अपूर्वकरण में पहुँचता है वहां से जब अनिवृत्तिकरण में पहुंचता है तब उसकी वर्तना में वहां प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया और लोभ 4, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ 4, नंपुसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, संज्वलनक्रोध, मान और माया- इस प्रकार 20 तो मोहनीय कर्म की प्रकृतियां, 3 दर्शनावरण की और 13 नामकर्म की- इस तरह 36 प्रकृतियों का नाश करता है। ये सब प्रकृतियां नौ बार में नष्ट होती हैं। इसका क्रम निम्न प्रकार है- पहिले भाग में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्विइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, उद्योत, आताप, एकेन्द्रियजाति, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और सत्यानगृद्धि- इन 16 का क्षय होता है। दूसरे भाग में प्रत्याख्यानावरण 4 और प्रत्याख्यानावरण 4- इस तरह 8 का क्षय होता है। तीसरे भाग में नंपुसक वेद, चौथे भाग में स्त्रीवेद, पांचवें भाग में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, छठवें भाग में पुरुषभेद, सातवें भाग में संज्वलन क्रोध, आठवें में संज्वलनमान और नवें भाग में संज्वलन माया का क्षय करता है। सूक्ष्म साम्पराय में सूक्ष्म लोभ का नाश कर क्षीणकषाय 12 वें गुणस्थान में पहुंचता है, वहां अन्त समय में ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियां अन्तराय की 5 प्रकृतियाँ और दर्शनावरण की 4- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण- इन 14 प्रकृतियों का क्षय करता है और इसके पहिले उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला इन दो का क्षय करता है तब अरहंत पद पालता है। उस 13 वें सयोग केवली गुणस्थान को प्राप्त होते ही साधक को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस केवलज्ञान में तीनों लोकों के त्रिकालवर्ती चराचर पदार्थ एक साथ हाथ में रखे आंवले की तरह स्पष्ट प्रतिभासित होने लगते हैं और वह क्षायिक केवलज्ञान फिर आगे सदा वर्तता रहता है। अयोगकेवली गुणस्थान और सिद्धपद में भी हमेशा के लिये उदीयमान रहता है और सर्वदा उसी तरह प्रतिभास निरन्तर होता रहता है जैसा कि केवल ज्ञान प्राप्ति के पूर्व क्षण में किया था। केवली के

केवल ज्ञान हो जाने पर फिर मतिज्ञानादि का कोई विकल्प उस ज्ञान में नहीं रह जाता क्योंकि वही जब पूर्ण प्रकाश उदय हो चुका तो अंशरूप प्रकाश का अलग अस्तित्व कहां रहा? जैसे एक दीवाल में अनेक खिड़कियाँ हैं और उन सबका आंशिक प्रकाश अलग अलग आता है। जब पूरी दीवाल को गिरा दिया गया तो फिर खिड़कियों के आंशिक प्रकाश का अलग का अस्तित्व वहां नहीं कहलायेगा। वह प्रकाश भी उस महाप्रकाश में आ गया है। इसी तरह इन्द्रिय और मन के द्वारा परोक्ष रूप में जो मतिज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञान रूप ज्ञान होता था अथवा आंशिक प्रत्यक्ष जो अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान होता था, केवली भगवान के वह इन्द्रियज्ञान नहीं रहा। सम्पूर्णज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से उन ज्ञानों का विषय प्रतिभासित होता है। छद्मस्थ और केवली भगवान के ज्ञान में अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का तो अन्तर है ही किन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष का भी महान् अन्तर है। छद्मस्थ का ज्ञान क्रमवर्ती होता है लेकिन सर्वज्ञ, युगपत् सर्वपदार्थों की सब दशाओं को जानते हैं। यही नहीं ऐसे ही अनंत लोकवर्ती पदार्थ हों तो उन सबको युगपत् जानने की सामर्थ्य उस केवलज्ञान में होती है। केवल बाह्य चराचर सारे पदार्थों को जानते हैं यह व्यवहार से कहा जाता है। निश्चय से तो वे चित्प्रतिभासरूप अपने को ही जानते हैं। इस केवलज्ञान की महिमा में जितना कहा जाय सो थोड़ा है; इसके प्राप्त होते ही आत्मा को परमात्मा पद प्राप्त होता है, पूर्ण वीतरागता प्राप्त होती है और सिद्ध अवस्था भी प्राप्त होती है। अनादिकाल का याचक या पूजक आत्मा, अनंतकाल के लिये पूज्यपद में आसीन हो जाता है। यह केवलज्ञान अंशरूप सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही तो होता है, अत: केवलज्ञानप्राप्ति का सारा श्रेय सम्यग्ज्ञानरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को है और सम्यग्ज्ञान प्राप्ति का श्रेय भी सम्यग्दर्शन को है जिसके होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। जिसके बिना मिथ्याज्ञान ही बना रहता है वह सम्यग्दर्शन मोह छोड़ने से होता है। मोह भेदविज्ञान से छूटता है और भेदविज्ञान तथा मोह का अभाव निश्चयत: स्व की उन्मुखता से होता है व व्यवहारत: धर्मात्मा पुरुषों की संगति और दर्शन प्राप्त करने से होता है। वारिषेण राजकुमार जो कि श्रेणिक के पुत्र थे मुनि हो गये। एक दिन चर्या में उनका आहार पुष्पडाल के यहां हुआ जो कि उनकी बाल्यावस्था का मित्र था। पुष्पडाल वारिषेण मुनि के आहार करा चुकने के बाद वन को जाते हुये मुनि को पहुंचाने के लिये शिष्टाचार के नाते पीछे पीछे गया। जब शहर से बहुत दूर निकल गये, तब उसने मुनि को यह बात याद दिलाने के लिये कि हम लोग शहर से बहुत दूर आ गये हैं, कहता है महाराज यह वही स्थान है जहां हम बचपन में खेलने के लिये आते थे, यह शहर से इतना दूर है। पुष्पडाल यह बात याद दिलाकर चाहता था कि मुनि हमको वापिस लौट जाने के लिये कह दें। मुनि उसके अभिप्राय को तो समझ गये थे किन्तु कुछ कहा नहीं। आगे चलकर पुष्पडाल ने फिर कई स्थानों का संकेत किया और शहर के बहुत दूर आ चुके हैं यह बात याद दिलाने की चेष्टा की और उसने चाहा कि मुनि कह दें तो मैं पीछे लौट जाऊं। लेकिन मुनि तो बढ़ते बढ़ते अपनी वन की तपोभूमि तब पहुँच गये। साथ में पुष्पडाल भी था। उस तपोभूमि में पुष्पडाल का मन विरक्ति की ओर बढ़ा और वारिषेण मुनि से ही दीक्षा लेकर वह भी दिगम्बर साधु बन गया। लेकिन जब वारिषेणजी ने देखा कि इसका स्त्री से मोह अभी छूटा नहीं है, तब उससे विरक्ति कराने के लिये एक

उपाय किया। उन्होंने अपने घर माता को संदेशा भिजवाया कि हमारी बत्तिसों स्त्रियों को अलंकारों से भूषित कर तैयार रखो, मैं घर आ रहा हूं। माता को इस संदेश से अनेक तरह की भावनायें पैदा हुई, लेकिन मुनि की आज्ञा का उसने पालन किया। वारिषेण पुष्पडाल सहित अपने घर आये, पुष्पडाल इनके घर वैभव और अतिसुन्दर 32 स्त्रियों को देखकर संसार से और अपनी कानी स्त्री से सर्वथा विरक्त हो गया और यथासाध्य तपश्चर्या में लीन होकर आत्मा का उद्धार किया। यह सत्संगति का प्रभाव था कि पुष्पडाल के जीवन में एक अनोखा उत्तम परिवर्तन हो गया। इसी तरह एक लकड़हारा भी चर्या के समय एक मुनि के पीछे हो लिया। साथ में होने से मुनि का आहार हो चुकने पर उसको भी आदरपूर्वक भोजन प्राप्त हुआ। इस बात से मुनि के सम्मान आदि से प्रभावित हो वह भी मुनि के साथ हो लिया और दीक्षा लेकर मुनि हो गया। मुनि होने पर उसकी निर्मलता यहां तक बढ़ी कि क्रम से, एक दिन दो दिन और 3 दिन का उपवास करता गया। उसकी आयु भी इतनी ही शेष थी। उन उपवासों के साथ भावों की निर्मलतापूर्वक समाधिमरण करके स्वर्ग में जा पहुँचा। कहाँ तो दरिद्री लकड़हारा और कहा 3 दिन पीछे स्वर्ग का ऋद्धिधारी देव। यह मुनि के सत्संग का ही प्रभाव था। इसी तरह भावदेव भी अपने बड़े भवदेव मुनि के साथ हो लिया, उसी दिन उसका विवाह होकर आया था लेकिन वह मुनि के साथ जाकर स्वयं भी मुनि बन गया। और भी ऐसे अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं तो आत्मकल्याण के लिये सत्संगति की अति आवश्यकता है। यह सब व्यवहार की प्रधानता से कहा जा रहा है, निश्चय से तो जीव जब अपने स्वरूप की संभाल करता है, कुटुम्ब, शरीर आदि से मोह तोड़ता है, रागद्वेष आदि विकारों पर विजय पाता है, तभी उसको निरापद पद प्राप्त होता है। मुमुक्षु जीव जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना में लग जाता है तब पूर्ण केवलज्ञान के साथ अरहंत अवस्था उसे प्राप्त होती है। तब नियत समय तक सयोग केवली और अयोग केवली गुणस्थानों में रह मुक्ति प्राप्त करने के उपांत्य समय में अघातिया कर्मों की अवशिष्ट 72 और अन्त समय में 13 प्रकृतियों का क्षय कर देता है।

और उक्त 13 प्रकृतियों को अन्त समय में नष्ट कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। कर्मों से सर्वथा छूट जाने पर वह शुद्धजीव, सीधा सिद्धशीला को 1 समय मात्र में पहुँच जाता है। वहां लोक के अग्रभाग में जहां तक कि जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है, वहां स्थिर हो जाता है। क्योंकि आगे गमन करने में सहकारी धर्म द्रव्य नहीं रहता। यदि आगे भी धर्म द्रव्य होता और जहां तक भी होता वहां तक सिद्धजीव 1 समय मात्र में पहुँच जाता। सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाने पर कर्मों के उदय, उपशम और क्षयोपशम से होने वाले भाव भी नहीं रहते। ये वैभाविक भाव कर्मों की सत्ता से थे लेकिन जब वे नष्ट हो गये तो उनके निमित्त से होने वाले संयोगीभाव भी नष्ट हो जाते हैं। किन्तु स्वभावदशा में रहने वाले या होने वाले सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान और सिद्धत्व आदि अनंत शुद्ध भाव प्रगट हो जाते हैं व रहते हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि कर्ममुक्त जीव ऊपर सिद्धलोक को ही क्यों जाता है? तो उसका समाधान है कि उसका स्वभाव ऊपर आने का ही होता है इसलिये वह ऊपर जाता है। जैसे अग्नि की शिखा हवा आदि के झोंकों से रहित हो तो ऊपर को ही जाती है, क्योंकि ऊपर जाने का ही उसका

स्वभाव है। जैसा कि जल का नीचे बहने का स्वभाव है। सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के पूर्व अपनी साधक दशा में वह उस ऊर्ध्व सिद्धगति को प्राप्त करने की भावना भी बार बार करता रहा है, अत: वह ऊर्ध्वगमन ही करता है। जैसे कि कुम्हार चक्के को घुमाता घुमाता छोड़ देता है लेकिन चक्का पूर्व संस्कार से नियत समय तक चलता ही रहता है अथवा जैसे मिट्टी से लिप्त तूंबडी जल में पड़ी हो जब उसकी मिट्टी धुल जाय तब वह उसी समय जल के ऊपर आ जाती है, उसी तरह आत्मा जब शरीररूप नौकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्मरूप मैल से रहित हो जाती है तब वह भाररहित हो ऊर्ध्वगमन करती है तथा जैसे अरण्ड का बीज बौंडी फटने पर जब निकलता है तब पहले ऊपर को ही जाता है। इसी तरह आत्मा कर्मबंधन और शरीर बंधन से तब छूट जाती है तब ऊपर को गमन करती है।

सिद्ध अवस्था में जीव सम्पूर्ण विकार बाधा से रहित और अपूर्णता से रहित, पूर्ण शुद्ध सुख में लीन रहता है। वह अपनी चैतन्य सत्ता के पूर्ण आनंद का उपभोक्ता होने से सच्चिदानंद कहलाता है। उसका ज्ञान, दर्शन और वीर्य पूर्ण और अनंत होता है। संसारी अनंत विकारों के बदले उसमें अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। वे अनंतगुण चेतनारूप से, शुद्ध स्वाभाविक रूप से परिणमते रहते हैं। उनमें फिर कभी विकार पैदा नहीं होता। क्योंकि विकार पैदा करने वाले कर्म होते हैं, उनका वहां सर्वथा क्षय हो चुका होता है। रागद्वेषादि भाव कर्मों के अभाव में द्रव्यकर्म अपने आप आत्मा से चिपटने का सामर्थ्य नहीं रखता। जैसे कि शुद्ध किया हुआ सोना कितने भी समय तक कीचड़ में पड़ा रहें फिर भी शुद्ध ही रहता है। जो जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण संसार की 84 लाख योनियों में भटकता फिरता दु:खी हो रहा था, वह जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करता है, अपनी प्रभुता को पहिचानता है तब क्रमश: कर्म क्षीण होते होते एक समय वह आता है, जब कर्म सर्वथा सर्वदा के लिये वियुक्त हो चुकते हैं और जीव का शुद्ध चैतन्य स्वभाव प्रगट हो जाता है, वह भगवान परमात्मा प्रभु ईश्वर और सिद्ध आदि अनेक नामों से स्मरणीय परमपूज्य पद को प्राप्त कर लेता है। अनंतकाल से अनंत जीव जो इस पद को प्राप्त हुये हैं अथवा आगे अनंतकाल तक जो अनंत आत्माएं इस पद को प्राप्त होंगे वे सब आत्माएं पहिले हमारी हैं, जैसे संसार अवस्था में विकारी और चतुर्गति में भटकते रहने वाले होते हैं। लेकिन जब वे सत् पुरुषार्थ करना प्रारम्भ करते हैं तो उनका पद उन्हें प्राप्त हो जाता है, संसार की सभी आत्माएं प्रभुता से पूर्ण हैं, लेकिन उनकी स्वयं की भूल से उनके ही विकारों के कारण वह प्रभुता प्रगट नहीं होती, अप्रकट रहती है। भूल सुधारने पर वह प्रभुता प्रगट हो जाती है और हमेशा के लिये वे प्रभु बन जाते हैं। ऐसे जो परम पुरुषार्थी सिद्धार्थों सिद्ध आत्माओं की आराधना करता है, उनका स्मरण, चिन्तन और मनन करता है, वह भी अपने स्वरूप का भान कर उनके समान बन जाता है। कोई भी जीव अपनी इस शुद्ध परमात्मा दशा को पाने के लिये सर्वथा स्वतन्त्र है, जैसा कि अपने विकारों से संसार में फंसे रहने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। जीव की स्वतन्त्रता के दो रूप हैं। 1 संसारी और 2 मुक्त। अब समझदार प्राणी को इन दो में से चुनना चाहिये कि हमें कौनसा रूप उपादेय है? निश्चयत: हमें हमारी सिद्ध अवस्था उपादेय होनी चाहिये। उसके लिये पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा और तदनुरूप वृत्ति भी होनी चाहिये। इस प्रक्रिया से हम अवश्य

ही उस शुद्धबुद्ध गति को प्राप्त कर सकेंगे जो कि इस समय हमारा आराध्य है। फिर वही आराध्य और वही आराधक दोनों का अभिन्न सच्चिदानंद रूप प्रगट हो जावेगा।

बंध के कारण का अभाव और निर्जरा होने से सम्पूर्ण कर्मों का अत्यंत अभाव हो जाना मोक्ष है। संवर और निर्जरा एक साथ होते हैं। संवर हो और निर्जरा न हो तो कभी फिर भी कल्याण हो सकता है और किन्तु निर्जरा हो तो किन्तु संवर न हो तो कल्याण असंभव है। इसलिये संवर अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि फल देकर कर्म तो प्रतिसमय खिरते ही रहते हैं उनसे आत्मा का भला नहीं हो सकता है।

जो किये जाते हैं वे कर्म हैं। तो आत्मा रागादि भावों को ही कर सकता है। इन पुद्गल कर्मों को आत्मा कभी नहीं कर सकता। ये पुद्गल कर्म रागादि भावों में कारण पड़ते हैं इसलिये इनको भी कर्म ही कहते हैं।

आत्मा के विकारी भाव मिथ्यात्व कषाय और अज्ञान वगैरह कर्म हो सकते हैं। आत्मा से मिथ्यात्व अज्ञान, अदर्शन आदि कर्म अर्थात् ज्ञानावरण वगैरह कर्म के छूटने पर अरहंत अवस्था प्राप्त होती है। उसके बाद अघातिया कर्मों के भी नाश हो जाने पर मोक्ष होता है।

आत्मा की स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष एक ही बात है। देखो ना, पराधीनता कोई पसन्द नहीं करता है। हमें कोई पराधीन बना भी नहीं सकता है। हां, हम अपनी खुशी से पराधीन बनने को होते हैं तभी कोई हमें पराधीन बना सकता है। क्योंकि हम तो भगवान के भी आधीन नहीं। हां, उनकी आधीनता इसलिये कुछ दिन स्वीकार करना पड़ती है कि हमें उनके पथ पर चलना है।

राजा जनक का कथानक प्रसिद्ध है कि एक बार एक धर्म जिज्ञासु आया और जनक से कहने लगा कि महाराज ! मुझे धर्म का रहस्य बतलाइये, मैं संसार छोड़ना चाहता हूं, पर ये घर कुटुम्ब के लोग मुझे नहीं छोड़ रहे हैं। उसी समय राजा जनक एक सिंहासन को पकड़कर कहने लगे- भाई ! मैं कैसे सुनाऊं? मुझे इस सिंहासन ने पकड़ रखा है। ये मुझे छोड़ देवे तो मैं कुछ तुमसे बात भी करूं। तब वह श्रावक कहने लगा कि महाराज ! आप कैसी बात कर रहे हैं, सिंहासन आपको कैसे पकड़ सकता है? तब महाराज ने कहा- भाई !सिंहासन हमको तो नहीं पकड़ सकता, तो क्या तुमको घर गृहस्थी पकड़ सकती है? उसकी आंखें खुल गई। इसी तरह तुमने संसार को पकड़ रखा है।

बंध का कारण स्वयं के विचार और स्वयं की कषाय है। लड़का अपने आप विवाह करके बेड़ियों में जकड़ गया है। किसी ने नहीं जकड़ा है। इसी तरह अपने रागद्वेष भाव को जागृत करके अपने आप परतन्त्र बन जाते हैं। धन परिवार का सम्बन्ध सबको मीठा लगता है, पर फैसला सबका होता है। यदि यह फैसला भगवान करे तो फिर भी देर हो सकती है, किन्तु कर्म का फैसला तो तत्काल उसी समय हो जाता है।

मिथ्यादर्शन अच्छी तरह चौथे गुणस्थान में दूर होता है। जब तक भ्रम है तब तक आकुलता है। रस्सी में सर्प का भ्रम हो गया कि आदमी दु:खी हो गया। किन्तु भ्रम दूर हुआ कि फिर भ्रम नहीं हो सकता है। द्रव्यस्वचतुष्टय से है परचतुष्टय से नहीं है, ऐसी श्रद्धा होने पर भ्रम कभी भी नहीं हो सकता है।

वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि आ जाने पर उस आत्मा में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह अपने आप आ जाते हैं। उसके घर में शांति का साम्राज्य छा जाता है। देखो शरीर के रहते कभी रोग, कभी शोक, कभी दु:ख आदि अनेक आपत्तियां लगी हुई है। इसलिये जब शरीर ही न रहे तो ये सारी व्याधियां अपने आप नष्ट हो जायेंगी। तो आप लोग बतलाओ कि जहां शरीर ही न हो ऐसी स्थिति आपको पसंद है या नहीं? यदि पसंद है तो सर्वविविक्त आत्मतत्त्व को देखो। यह आत्मतत्त्व तो आपमें ही है, उसके दर्शन के लिये ''धन कुटुम्ब घर मकान वगैरह कहां जायगा'' इस प्रकार का विकल्प आपको अवश्य मिटाना होगा। फिर उस अवस्था में पहुंचने पर फिर यह विकल्प ही नहीं उठने पायेगा।

लोग परेशान हैं कि जीव कब से, कहां से, कैसे आता है? कहां जायगा? पर जिन्हें कल्याण की थोड़ी भी इच्छा है उन्हें ऐसी भावना उठना स्वाभाविक है। जिन्हें कल्याण की भावना नहीं, वे संसार में मजा मौज कर रहे हैं, इसे ही सुख समझते हैं। अपने एक अखण्ड सत् का श्रद्धान हो जाय तो ये सारे दु:ख समाप्त हो जायें।

कल्याण करना है तो अपना एक प्रियतम बना लो। प्रियतम के माने जो सबसे अधिक प्रिय हो। सबसे अधिक प्रिय अपना आत्मा ही है। बाह्य में अरहंत और सिद्ध ही हो सकते है और दूसरा कौन प्रियतम बन सकता है? आत्मा को प्रियतम बनाने पर तो एक दिन सब कर्मों का क्षय हो जायगा।

जो जिसका 'स्व' है वह उसका स्वामी है। खशम भी स्वयं बन जाओ। ख माने इन्द्रियों को शम याने शमन करना अर्थात् जो इन्द्रियों को शमन करे उसे खशम कहते हैं। पति, प्रियतम, स्वामी, मालिक, खशम सब आप अपने अपने ही हो, कोई किसी का स्वामी नहीं। पिता भी आत्मा का वही आत्मा है और वही माता है, यहां अपनी सृष्टि करता है। अनुभूति इसकी रमणी है, क्योंकि उसी में यह जीव रमण करता है। इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को स्वामी माना कि दरिद्रता सामने आ जायगी।

जो बीज जल जाता है, तब उससे फिर वृक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसी तरह मोह नाश हुआ कि फिर संसार का वृक्ष कैसे बढ़ सकता है? क्योंकि संसार का बीज यही मोह है। 142 प्रकृतियों में कुछ ऐसी प्रकृतियां हैं जिन्हें नाश नहीं करना पड़ता। जैसे नरकगति, तिर्यंचगति, देवगति और किसी किसी के तो आहारक शरीर तीर्थंकर वगैरह की भी सत्ता नहीं है। इसलिये इनका नाश अयत्नसाध्य है।

सम्यग्दृष्टि की अनंतानुबन्धी 4 और दर्शन की 3 प्रकृतियों का क्षय चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होता है। यहां से ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये अपने को सिद्ध बनने का प्रोग्राम बनाना चाहिये। देखो कुल संख्या 9 तक होती है। 9 के बाद एक गोल 0 आता है। गोल का आदि अंत नहीं होता है। श्री आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के 10 वें अध्याय में इसी एक गोल पर छोड़ दिया है। आत्मा ही ऐसा है जिसका कुछ आदि अंत नहीं है। यही ध्रुव तत्त्व है जिसकी दृष्टि से शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिये उसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

ॐ शान्ति